# दिनकर के काव्य

लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

आनन्द पुस्तक भवन
पहड़िया, वाराणसी–२

प्रकाशक
सम्पूर्णानन्द एम० ए०
आनन्द पुस्तक भवन
पहड़िया, वाराणसी-२

प्रथम संस्करण १९५७
मूल्य ५)

मुद्रक
बजरंगबली गुप्त, 'विशारद'
श्री सीताराम प्रेस, वाराणसी-१

# भूमिका

आधुनिक हिन्दी-कविता का परिधान—वेश-भूषा—बड़े वेग से एक के बाद दूसरा बदलता जा रहा है। नये-नये प्रयोगों के संयोग और वियोग देखते-देखते हो रहे हैं। कितने प्रयोग प्रयोगावस्था में ही अप्रयुक्त सिद्ध हो गए। किसी में भी स्थायित्व गुण देखने को नहीं मिल रहा है। इसका एक मौलिक कारण तो यही है कि हम विदेशों से शिक्षा पाकर अपनी भूमि पर प्रयोग करने बैठते हैं। इसके भी दो ही कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि स्यात् हमारे पूर्वार्जित प्रभूत साहित्य ने अपनी प्रेरणात्मिका शक्ति खो दी हो, जिसके कारण हम उससे विरत हो गए हैं और दूसरा यह कि स्यात् उसे समझने की हमारी शक्ति ही जवाब दे चुकी है। किन्तु साथ ही हम देखते हैं, हमारे कवियों में एक सशक्त वर्ग ऐसा भी है जो अपनी धरती को नहीं भूल सका है। प्राचीन धरती और आकाश ने अद्यावधि जितना परिवर्तन स्वीकार किया है, उसी के अनुकूल अपने को परिवर्तित करके कितने ही मनस्वी मनीषी कवि आज हमारे समक्ष नूतन काव्य प्रस्तुत कर रहे हैं। जो वर्ग आत्म-स्वरूप को भूल गया है, अपने को युग-निर्माता कहलवा लेने की धुन में जिसने यह मान लिया है कि जो कुछ भी प्राचीन (प्राच्य) है, वह त्याज्य है और जो कुछ भी नया (पाश्चात्य) है वह सबका सब श्लाध्य है, वह अँधेरे में नयी राह टटोलने में भटक रहा है। परिणाम यह है, वह हिन्दी-जनता को कुछ ठोस कृति दे ही नहीं पा रहा है।

हम देखते हैं कि हिन्दी के नवयुवक किसी 'वाद' के नाम को सुनकर बिना सोचे-विचारे इस प्रकार उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं, मानो सच्ची कविता इसी 'वाद' मे ही है और कोई 'वादी' बने विना महत्वपूर्ण कवि का गौरव प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। इस प्रवृत्ति के कारण हिन्दी-कविता का अहित अधिक हुआ है। बहुसंख्यक अनधिकारी भी भीड़ में जा मिले कि भला भीड़ मे मुझे पहचानता ही कौन है जो रोक-टोक करे। छन्दोबन्ध जाता ही रहा, जो भी अनर्गल, बे-सिर-पैर का लिख दो, कविता मान ही ली जायगी, फिर क्यों इस स्वर्ण-अवसर का सदुपयोग न किया जाय। ऐसी ऊँट-प-टाँग कृतियाँ कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिल जाती हैं और बहुत कुछ कवि-सम्मेलनों के अवसर पर बलात् सुनने को मिल जाया करती हैं। आज एक खटकनेवाली बात और बहुत देखने को मिल रही है, वह यह कि जब कोई व्यक्ति आलोचना की पुस्तक लिखता है तब उसमें अपने दल के लोगों का ही प्रशंसात्मक रूप मे विविध भाँति उल्लेख करता है और आलोचक के पद को कलंकित करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। इस प्रकार 'अहोरूपमहोध्वनिः' की कहावत को ही इतस्ततः चरितार्थ होते हम देख रहे हैं। स्वभावतः ही दूसरे वर्ग के व्यक्तियों की निन्दा करनी पड़ती है, विना उसकी कृतियों के गुण-दोष परखे। इस प्रकार की मनोवृत्ति जो तथाकथित साहित्य प्रस्तुत करती है, वह अल्पायु तो होता है, किन्तु हिन्दी-भाषी जनता में भ्रान्ति उत्पन्न करके साहित्य का साम्प्रतिक अहित भी कर ही जाता है।

मानवता को प्रगति-पथ पर ले जानेवाले भावों की सहज प्रेषणीयता जिस काव्य में मिले, वही प्रशंसा का भाजन होना चाहिए, चाहे उसकी उद्गम-स्थली कोई भी विचार-धारा हो। काव्य के दो तत्व शाश्वत, सार्वजनीन और सार्वभौम हैं, पहला आनन्द और दूसरा मंगल वा जन-योगक्षेम। आनन्द तत्व के अन्तर्गत ध्वनियाँ, रीतियाँ, अलंकार, रस और छन्द ये सभी आ जाते हैं। आनन्दोद्भूति में इन सबका योग रहता है। भाषागत सौन्दर्य काव्य का बाह्य आकर्षण है और भावगत वा रसगत आकर्षण उसका हृद्गत सौंदर्य। वह सौंदर्य जो पाठक के हृदय को सहर्ष साथ लेकर मंगलमय पथ पर लगा देता है, काव्य का अनुपेक्षणीय वरेण्य तत्व है। जो काव्य जड़-चेतनमय अशेष विश्व के प्रति हमारे मन में ममत्व जगा दे वही उत्तम काव्य है।

दूसरी बात जो आज विशेष खटकनेवाली देखने में आ रही है, वह है भाषा-सम्बन्धी। मनीषियों से यह बात छिपी नहीं है कि कवि के हाथों भाषा का परिष्कार होता है। उसमें नूतन अभिव्यंजक शक्ति लचीलापन, (elasticity)

सौंदर्य, निखार आदि गुणों का समावेश कवि के द्वारा ही होता है। किन्तु आज हिन्दी भाषा की प्रकृति और उसके व्याकरण से अनभिज्ञ बहुसंख्यक अनधिकारी जनों का साहित्य में निर्बाध प्रवेश विशेष चिन्त्य है। यही बात हम आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि क्षेत्रों में भी देख रहे हैं। अन्य किसी भी भाषा में इस प्रकार की धाँधली और अनधिकारी जनों की धमाचौकड़ी साहित्य-क्षेत्र में देखने को नहीं मिलेगी। हिन्दी के विद्वज्जनों का पुनीत कर्तव्य है कि वे इस ओर विशेष सतर्क दृष्टि से काम लें। जहाँ साहित्यकारों द्वारा भाषा को सौंदर्य, शक्ति और स्फूर्ति सदा से मिलती रही है, वहीं अब नूतन साहित्यकार भाषा को निर्जीव और अशक्त बनाने में लगे हुए हैं। कितने ही शब्दों के तो अशुद्ध अर्थों मे प्रयोग होने लगे हैं। तात्पर्य यह कि साहित्य-सर्जन की शक्ति प्राप्त करने के लिए जिस साधना की अपेक्षा होती है, उस साधना के कष्ट से कतराकर लोग उछल-कूदकर इधर-उधर से इस क्षेत्र में प्रवेश करने लगे हैं। उन्हें पता ही नहीं कि साहित्य है क्या वस्तु, किन्तु किसी दल के गले पड़कर सस्ती ख्याति अर्जित करने को उतावले अवश्य रहते हैं। इस प्रकार साहित्य का हित करने के स्थान पर वे अहित ही कर बैठते हैं। यदि हम खड़ी बोली के साहित्य के विगतकाल की ओर आँख फेरकर देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु-काल से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-काल तक के सभी साहित्यकार सच्चे साधक थे और सभी साधना की आँच में तपकर निखरे हुए थे। हमें छायावाद-युग तक भाषागत इस प्रकार का शैथिल्य देखने को नहीं मिलता, जैसा आज हम देख रहे हैं। आज विना साधना के ही लोग अपने को सिद्ध समझने लगते हैं, यह पण्डितमानित्व हमारे साहित्य के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। हमारे पूर्वाचार्यों का इस विषय में मौन भी खटकनेवाली चीज़ है। मौन ही नहीं, उल्टे कतिपय मनीषी आचार्य सस्ते प्रमाण-पत्र भी ऐसे कृतिकारों को देने में हिचकते नहीं। आज जब हिन्दी को इतना गौरवमय स्थान प्राप्त हो गया है तब हमें चतुर्दिक् से इसके योग-क्षेम की चिन्ता करनी चाहिए।

प्रसादजी, पन्तजी और निरालाजी के बाद आनेवाली पीढ़ी के प्रमुख कवियों में श्रीहरवंश राय 'बच्चन', श्रीनरेन्द्रशर्मा, पं० जानकीवल्लभ शास्त्री, श्री गोपाल सिंह 'नेपाली', पं० श्यामनारायण पाण्डेय, पं० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' आदि हैं। इनमें से श्री 'दिनकर' में युगानुकूल अपने को बना लेने का गुण श्रीमैथिलीशरण गुप्त के ही समान रहा है। इनकी प्रतिभा सतत जागरूक रही है और प्रवृत्ति चिन्तनशील। इन्होंने आद्यन्त अपने को सभी दलों से पृथक् रखकर अपने भारतीय स्वरूप की रक्षा बड़ी सावधानी से

की है। चाहे इनके कण्ठ से 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' का उद्घोष निकले अथवा 'चली पिया के देश, उमर के सोलह फूलोंवाली' का कोमल स्वर, सर्वत्र ही भारतीय संस्कृति का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता रहता है। श्री दिनकर ने दीन, दलित किसानों की झोपड़ियों में जाने में कभी झिझक नहीं दिखाई, अपितु इन्होंने बड़ी ही आत्मीयता से उपेक्षितों को भी गले लगाया है, उनके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझा है। ये अपने काव्य में कभी अनबूझ पहेली बुझाने में प्रवृत्त नहीं हुए, न ही जन-साधारण से अपने को ऊँचा समझने का आडम्बर रचा है। मुक्तक से लेकर प्रबन्ध-काव्य तक में इन्होंने समान रूप से सफलता पाई है। मुक्त छन्दों में भी इनका कवि-रूप तिरोहित नहीं हो सका है। प्राचीन के प्रति श्रद्धा और नवीन के प्रति आकर्षण दोनों ही इनमें सहज रूप में मिलते हैं, यह इनके हृदय की विशालता का प्रमाण है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने श्री दिनकर की कृतियों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। आशा है, इससे श्री दिनकर के कवि-स्वरूप को समझने में पाठकों को साहाय्य अवश्य मिलेगा।

मातृनवमी, २०१४<br>
वैद्यनाथ-धाम,<br>
काशी

'प्रवासी'

# अनुक्रम

विषय | पृ० सं०

# पूर्व भूमि

आज के प्रभात का वह ब्राह्म-मुहूर्त था जब प्रथम वैतालिक ने अनतिदूर के अरुणोदय को अपने प्रातिभ प्रकाश मे आते हुए देखकर उच्च कण्ठ से जागरण गीत गाया था,

'अरे बीर इक बेर उठहु सब फिर कित सोए।
लेहु करन करवाल काढ़ि रन-रंग समोए।।'

भारतेन्दु यथार्थतः कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी थे। देश की दुर्दशा को देखकर उसके मूल कारण के उच्छेद के निमित्त सर्व-प्रथम अपने उद्घोप को सबके हृदय-स्थल तक पहुँचानेवाले वे ही थे—'इक बेर उठहु सब' में सामूहिक संगठन का स्वर भी कितना ज़ोरदार है। उसके काफ़ी दिनों बाद देश की एक मात्र राजनीतिक संस्था कांग्रेस ने, जो स्थापित तो कुछ वर्ष पहले ही हो चुकी थी, सन् १६०५ के काशी-अधिवेशन में देश की पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि स्वतन्त्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। भारतेन्दु के समय तक देश की राजनीतिक चेतना को कोई बलवान् नेतृत्व नहीं मिल सका था। शिक्षित-समुदाय में राजनीति की चर्चा अवश्य होती रहती थी, पर कर्म-क्षेत्र में उतरने के लिए विवश कर देनेवाले उत्साह का लोगों में उस समय अभाव था। जब तक देश के अधःपतन को देखकर व्यक्ति या समुदाय के मन में असन्तोप उत्पन्न नहीं होता, तब तक न तो कर्म-प्रवृति का

जागरण होता है और न तदनुकूल उद्बोधक साहित्य का सर्जन ही। हिन्दी के कतिपय साहित्य-सेवियों के हृदय में देश की दुर्दशा को देखकर सरकार के प्रति रोष अवश्य उत्पन्न हो गया था। उनमें प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण-भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि प्रमुख थे। इन साहित्य-सेवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः गद्य को ही बनाया था। भारतेन्दु ने जिन कविताओं में देश-प्रेम को व्यंजित किया है, उनमें खिन्नता, निराशा, शोक, अतीत की स्मृति से उत्पन्न परिताप एवं दीनता ही विशेषतया मुखरित हुए हैं। उनमें वर्तमान के प्रति असन्तोष तो है, किन्तु कर्म-क्षेत्र में कूद पड़नेवाला कर्मप्रेरक उत्साह नहीं है। सदियों तक पराधीनता के पाश में बद्ध रहने के कारण लोगों के हृदय से आत्म-विश्वास जैसे छिन गया था। यहाँ तक कि अंग्रेजी-सत्ता से सक्रिय संघर्ष करनेवाले सन् १८५७ के देश-प्राण वीरों के प्रति किसी साहित्य-सेवी ने एक शब्द भी, उनके त्याग और राष्ट्रीय भावना पर, नहीं लिखा था। ऐसा लगता है कि सोए हुए हिन्दी-साहित्य के निस्पन्द शरीर मे चेतना-बोधक हरकत अवश्य हुई थी, किन्तु तन्द्रा से पूर्णतया मुक्ति नहीं मिल सकी थी। उस समय देश मे क्रान्तिकारियों का दल धीरे-धीरे सजग होने लगा था। पं० बालकृष्ण भट्ट ने, जो उस समय प्रयाग के 'कायस्थ पाठशाला'-कालेज मे संस्कृत के अध्यापक थे, उनकी उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी, और जवाब तलब किए जाने पर नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। भारतेन्दु ने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार, उद्योग-धन्धों के विस्तार की पुकार की थी, जिससे देश की ग़रीबी दूर हो और जन-जीवन में आर्थिक सुधार हो सके। कुछ अन्य लेखकों ने भी तरह-तरह से अपना असन्तोष व्यक्त किया था। किन्तु उस समय का साहित्य लोक-जागति का वाहन नहीं बन सका था, क्रान्ति का स्वर साहित्य का प्रमुख स्वर नहीं बन सका था, और यह तो बहुत आगे चलकर संभव हो सका।

सन् १९२० तक कांग्रेस की विचार-धारा विशेष बलवती नहीं थी। ठीक इसी समय रूस की महती क्रान्ति को सफलता मिली और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। उसके पश्चात् देश के नवयुवकों का क्रान्तिकारी दल विशेष रूप से सक्रिय हो गया था और उसने देश में एक नवीन जोश को उभाड़ दिया था, देश का हृदय उसकी ओर आकृष्ट हो गया था। धीरे धीरे कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गान्धी के हाथ में आया, जो अहिंसा-प्रधान भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। किन्तु बर्बर और उत्पीड़क साम्राज्यवादी अंग्रेजी-शासन के प्रति अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग देश के नवयुवकों के हृदय को अपने पक्ष में नहीं ला सका। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि इसके पूर्व राजनीति

के क्षेत्र में ऐसे साधन का उपयोग कभी किया नहीं गया था, अतः यह लोगों को अपनी ओर खींचने की अपेक्षा, लोगों के कुतूहल का विषय अवश्य बना। महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को लोग व्यक्तिगत साधना के लिए उपयोगी स्वीकार कर सकते थे और ऐसे साधक के प्रति जनता का आदर भी उपलब्ध हो सकता था, किन्तु राजनीतिक और आर्थिक दशा के सुधार के निमित्त लोक-हृदय ऐसी साधना को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं हो सकता। लोक-हृदय तो सदा से ऐसी शक्तियों को अपना हृदय समर्पित करता आया है, जो लोक-विरोधी तत्वों के उच्छेद में सफल हुई हैं। सदसत् उपादानों के योग से निर्मित विश्व-सृष्टि विशुद्ध सन्मयी हो सकती है और असत् को भी सत् में परिणत किया जा सकता है, ऐसा कभी सम्भव नहीं हुआ। शान्ति और सुखमय लोक-जीवन की प्रतिष्ठा असत् तत्वों के उन्मूलन द्वारा ही सम्भव हो सकी है, सम्भव हो सकती है, यही मानव-जीवन के विगत इतिहास का अनुभूत सत्य है। आज जो हम देश को विदेशी सत्ता से मुक्त देख रहे हैं, इस मुक्ति की उपलब्धि म ( भले ही यह मुक्ति अधूरी हो ) गाधीवाद का योग भी कम नहीं रहा है। और यही इसका प्रमुख कारण है कि आज भी भारतीय सामान्य जन अपने को स्वतन्त्र नागरिक के रूप में अनुभव नहीं कर पाते; वही आर्थिक शोषण, कर-भार, पुलिस-आतङ्क, बेरोज़गारी, सामाजिक वैषम्य सब कुछ ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। न राष्ट्र-ध्वज के प्रति स्वतन्त्र देश के नागरिकों की-सी सम्मान-भावना ही दिखाई पड़ती है, न उसकी रक्षा-हेतु सिर-दान का अभिमान ही परिलक्षित होता है, यह है हमारे देश को अहिंसा-मूलक राजनीति की देन। उस सघर्ष-काल में भी श्री जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस भारतीय लोक-हृदय के अधिक निकट इसलिए थे कि उनके विचार उग्र थे। जब श्री सुभाष ने साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध शस्त्र सँभाला, तब तो देश के जन-जन के मन मे उनकी प्रतिष्ठा ही हो गई। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि आततायियों के प्रति उठे हुए शस्त्र की पूजा मानव-मन को आदि काल से ही स्वीकार्य रही है। कर्म-जगत् से दूर रहकर प्रकृति के शान्त अंचल में मनोनुकूल शान्ति पानेवाले श्रीसुमित्रानन्दन पन्त को भी सामाजिक स्थिति के सुधार की ओषधि मार्क्स-प्रवर्तित समाजवाद में ही दिखाई पड़ी थी। और उन्होंने कहा था,

'सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।'

क्योंकि,

'साम्यवाद ने दिया-जगत् को सामूहिक जनतन्त्र महान,
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण।'

कहने का तात्पर्य यह कि आततायियों और पर-पीड़कों का विनाश किसी भी प्रकार अमानवीय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए गांधी जैसे सन्त-पुरुष के नेतृत्व के बावजूद भी भारत के लोक-हृदय ने अहिंसा को आत्मसात् नहीं किया, इसकी अभिव्यक्ति देश में स्थान-स्थान कभी-कभी हो जाया करती थी। सन् १९१९ में अमृतसर, अहमदाबाद, वीरमगाँव, नड़ियाद का जन-विद्रोह, सन् १९२२ में गोरखपुर ज़िले का चौरीचौरा-काण्ड, जिसमें महात्माजी ने स्वयं अनुभव किया था कि देश अभी अहिंसात्मक सत्याग्रह के निमित्त प्रस्तुत नहीं है और उन्होंने सत्याग्रह स्थगित कर दिया था। और सन् '४२ की जन-क्रान्ति ने यह सिद्ध कर दिया था कि बर्बर एवं नृशंस के लिए 'विषस्य विष-मौषधम्' का सिद्धान्त ही मानव-सिद्धान्त है। यह मानव-हृदय की प्रकृत भाव-भूमि है, जिसकी प्रतिष्ठा मानव-मन में आदिकाल से ही रही है। इसीलिए राष्ट्र के रक्षार्थ शूर-वीरों की कामना वैदिक काल में भी व्यक्त की गई थी,

'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योग-क्षेमो नः कल्पताम्॥

[ शुक्ल यजुर्वेद, अ० २१, मं० २२ ]

सन् १९३० से '३४ तक का समय देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के भयानक संघर्ष का समय था। इस बीच अहिंसात्मक संघर्ष के साथ ही साथ क्रान्तिकारी दल का हिंसात्मक संघर्ष भी चलता रहा, जिसमें सिर देने और लेने का अद्भुत अभिमान था। किसी देश का साहित्य उस देश की राजनीतिक गतिविधि से अवश्य ही प्रभावित हुआ करता है। अतः साहित्य का भी प्रभावित होना अनिवार्य था। कांग्रेस के उस संघर्ष-काल में हिन्दी के दो तरुण-हृदय कवि ऐसे भी थे जो राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग भी दे रहे थे। वे थे श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'। इनके अति-रिक्त देश के आन्दोलन का सच्चा चित्र अपनी कृतियों में मुंशी प्रेमचन्द भी सफलतापूर्वक चित्रित कर रहे थे। उस समय देश के कतिपय शिक्षितजनों पर, रूस की सफल क्रान्ति के फलस्वरूप, समाजवादी विचार-धारा का प्रभाव पड़ चुका था, जिसके परिणाम-स्वरूप कांग्रेस से पृथक् समाजवादी दल की स्थापना सन् १९३४ में हो गई थी। यह एक ऐसा समय था जब कि तरुण-हृदयों में रूस

के समान क्रान्ति का जोश हिलोरें मार रहा था। अतः वे राजनीतिक परिवर्तन के साथ-ही-साथ आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के लिए भी समाकुल हो उठे थे।

आश्चर्य की बात तो यह थी देश की विपत्ति और संघर्ष से अवगत कुछ हिन्दी के ख्यातनामा कवि अब भी अंग्रेज़ी साहित्य के रोमाण्टिक युग के कवियों की कविता में अपने को भुला रहे थे, उन्हें अपने प्रेम की विवृति से ही अवकाश नहीं मिल पा रहा था कि वे समयानुकूल देश के युवा-हृदयों में उत्साह भरकर उचित कर्तव्य का बोध करावें, इसके विपरीत वे स्वयं लोक-जीवन से पलायन करके इधर-उधर मुँह छिपाने के लिए सुंदर रमणीय वातावरण की तलाश में संलग्न थे। कोई नई शैली में हिन्दी के उत्तर-माध्यमिक काल-वाली शृङ्गारिकता का राग अलापने में मस्त था और कोई प्रकृति के रमणीक जन-शून्य खण्ड का चित्र उतारने में व्यस्त;* कोई आध्यात्मिक आलोक के आवरण में हृदय की वियोग-वेदना का शृङ्गार करने में आत्म-विस्मृत था तो कोई जीवन और जगत् की क्षण-भंगुरता की गुत्थी सुलझाने में आत्म-विभोर। गत संक्रान्ति-काल में जिन कवियों को प्रमुखता मिली, उनका ध्यान देश की जनता की ओर रहा ही नहीं। उन्होंने यह कभी सोचा तक नहीं कि हम जिस देश के भीतर रहकर काव्य-सर्जन कर रहे हैं, उस देश के निवासियों के जीवन को उन्नत बनाने में, नव-जागर्ति लाने में हमारी रचनाएँ कहाँ तक समर्थ हो सकेंगी। अपने को विगत सभी कवियों से श्रेष्ठ दिखाने के गर्व में उनकी दृष्टि धरती पर कभी उतरी ही नहीं, फिर वे लोकजीवन से परिचित ही भला किस प्रकार हो सकते थे। भारत-भूमि पर रहते हुए भी कुछ तो अपने को विलायती रूप में पेश करके लोगों को प्रभावित करना चाहते थे, कुछ अपने लौकिक प्रेम को अलौकिकता के आवरण में यों प्रस्तुत करने लगे थे, मानो किसी बड़े ऐब को छिपा रहे हों। कुछ अपनी कृतियों में अजनबीपन लाकर लोगों को आतङ्कित कर रहे थे। जो कुछ प्राचीन है, सब का सब उपेक्षणीय है, निन्द्य है, इस उन्माद में वे ऐसा रसायन प्रस्तुत करने की चिन्ता ही भुला बैठे, जिससे रोगाक्रान्त देश को स्वास्थ्यलाभ हो। पहिले की चली आती हुई परिपाटी, जो अति-शृङ्गारिक या वासना-प्रधान थी, उसकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप खड़ी-बोली काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित तो हुई, किन्तु वह या तो इतिवृत्तात्मक हुई या काव्यत्वहीन गद्यवत्। उसकी भी प्रतिक्रिया हुई और पदावली भी सरस और काव्योचित आने लगी। किन्तु उनके विषय-चयन को देखकर ऐसा ही लगता है कि ताड़ से गिरे तो खजूर पर अटके। सम्यक् दृष्टि के अभाव में कविता

का यह शाश्वत महान् उद्देश्य ही दृष्टि से ओझल हो गया,

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥'

यदि छायावाद-काल के कवियों ने इस 'वाद' को एक बहुत बड़ी चीज़ न समझकर प्रकृत काव्य-भूमि का आश्रय ग्रहण किया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारे साहित्य में श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों की अवतारणा हुई होती। इस 'वाद' काल के पूर्व खड़ी बोली में काव्य-सर्जना करनेवाले बहुत से कवि प्रकृत काव्य-भूमि पर चलकर ऊर्ध्वमुखी काव्य-लतिका का पल्लवन बड़ी सुरुचि के साथ कर रहे थे। देश की सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति उनकी दृष्टि से तिरोहित नहीं हुई थी। वे दृष्टि-विलोभनीय आकाशीय कल्पना के निर्माण में ही अपनी शक्ति का अपव्यय न करके जन-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास और उन्नयन के हेतु यत्नशील रहे। पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा की समाज सुधार की दृष्टि, पं० गयाप्रसाद 'सनेही' की कृषकों की दुर्दशा समझनेवाली प्रतिभा, पं० रामनरेश त्रिपाठी की स्वदेश-भक्ति और मनुष्यमात्र से होती हुई प्रकृति के मनोरम प्रांगण तक विचरनेवाली व्यापक दृष्टि का आगे चलकर जैसे तिरोधान ही हो गया। छायावाद युग में जन-जीवन लोगों की दृष्टि के समक्ष आ ही नहीं सका। लोक-हृदय की भूख और प्यास को पहचानना कवि का प्रथम कर्तव्य है। कुछ लोग कहते हैं कि इस काल के पूर्व कवियों में आत्माभिव्यक्ति का साहस नहीं था, व्यक्ति दबा हुआ था, इस काल में बड़ी बात यह हुई कि उसका मूल्य समझा जाने लगा। ठीक है, व्यक्ति की उपेक्षा भी नहीं होनी चाहिए, किन्तु वह व्यक्ति जिसको सम्मुख लाने की ज़रूरत है, ऐसा होना चाहिए, जिसकी आवश्यकताओं में लोक की आवश्यकताएँ मुखरित हो उठें। यदि व्यक्तिगत प्रेम की चीख-पुकार की परिपाटी न चली होती, तो विवेक की दृष्टि भी मुद्रित नहीं होती। यदि व्यक्ति की मुक्ति इसीलिए अनिवार्य है, तो रीति-काल में भी ऐसे अनेक कवि हो गए हैं, जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्ति किंवा प्रेम-वेदना को बड़े कौशल एवं सहृदयता के साथ प्रस्तुत किया है। किन्तु काल की माँग यह नहीं थी, उस समय उनकी राजनीतिक और आर्थिक भूख सर्वोपरि थी, जिसके बिना जीवन की रक्षा ही सङ्कट में थी। जो काव्य-पथ और देशों के लिए किसी कालविशेष में अपेक्षित होता है, उसका अनुसरण अपने देश के लिए किसी भी समय कवि-कर्तव्य है, यह भ्रान्ति वैसी ही रही, जैसे किसी रोगी का रोग समझे बिना कोई भी दवा उसे पिला देना, शीशी का

लेबुल चटकीला होना चाहिए। अनुकरण के लिए भी अनुकर्ता में विवेक होना चाहिए, उस समय के प्रमुख कहे जानेवाले कवियों ने अंग्रेजी, बँगला और संस्कृत साहित्य से जो ग्रहण किया, उसमें हिन्दी के दुर्भाग्य से उनके गुण कम ही आ सके। अभिव्यञ्जना-पद्धति भी अपनी न होकर अनजबी हो गई। कला के लिए चटकीलापन अवश्य लाया गया, पर उपयोगिता-शून्य। कवि पन्त ने तो इसी आवेश में अपने यहाँ के समग्र प्राचीन हिन्दी साहित्य को बुरा-भला भी कह डाला। सन्तुलित विवेक के अभाव में न तो आत्म-दूषणों की ओर ध्यान जा सका और न अतीत साहित्य के गुणों की ओर। इसीलिए कविता की प्रतिमाएँ तो उन्होंने बड़ी सावधानी से मनोमोहिनी बनाने का प्रयत्न किया किन्तु उनमे से बहुतों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। इनके स्वभाव में एक ख़ास बात आरम्भ से ही रही है और आज तक है, वह यह कि किसी भी प्रभविष्णु साहित्य को पढ़कर ये तन्मय हो जाते हैं, अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान इन्हें नहीं रहता, यह स्थिति तब तक ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, जब तक कोई दूसरा प्रभावशाली साहित्य इन्हें पढ़ने को न मिले। यह क्षणिकता आत्म-बोध के अभाव के कारण रहती है। श्रीमहादेवी वर्मा अपने लौकिक प्रेम को अलौकिकता का जामा पहनकर शान्ति-लाभ करती रहीं। श्रीजयशङ्कर 'प्रसाद' ने अपने लौकिक प्रेम को कुहेलिका में छिपाने का विशेष यत्न नहीं किया, उनकी कविता में प्रिया का पूरा स्वरूप आलङ्कारिक शैली में अङ्कित किया गया है, उदाहरण के लिए, 'आँसू' को देख लेना पर्याप्त होगा। इसके अतिरिक्त उनके नाटकों के गीतों से लेकर कामायनी तक में लोक-पक्ष की ही प्रतिष्ठा हुई है। कामायनी में तो उन्होंने मानव-जीवन को सुखमय बनाने के लिए इच्छा, ज्ञान और क्रिया या कर्म का समन्वय दिखाकर दुःख-जर्जर अशान्त जगत का निदान किया है; श्रद्धा और इड़ा के समान योग से मानवता के विकास की कल्पना की है, किन्तु उनकी पहले की कविताओं में बुद्धि के योग का प्रायः अभाव रहा है। रूपसी की एक मीठी तान सुने बिना उनके नाटकों के नायक युद्ध के लिए एक पग भी आगे बढ़ने को प्रस्तुत नहीं होते थे। 'प्रसाद' की दृष्टि अतीत से हटकर वर्तमान पर कभी भी जमी नहीं। उस युग में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनका विवेक कभी भी डिगा नहीं। उन्होंने न तो अतीत का तिरस्कार किया और न ही वर्तमान से आँख चुराई; न समूह का त्याग किया और न व्यक्ति की उपेक्षा। वे 'राम की शक्तिपूजा', 'दिल्ली', 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी कविताओं में जहाँ अतीत के गौरवशाली चित्र उपस्थित करते हैं, वहीं उनकी दृष्टि आज

की पत्थर तोड़ती हुई मज़दूरिन, विधवा और भिक्षुक पर भी टिके बिना नहीं रहती। यदि वे 'जुही की कली' जैसी शृङ्गारिक रचना करते थे, तो वे ही 'जागो फिर एक बार' का उद्घोष भी कर सकते थे। उनकी दृष्टि खँडहर और ठूँठ से भी वँध जाती रही है। 'कवि' का स्वरूप अङ्कित करते हुए वे कहते हैं—

जितने संसार के सुखमय जीवन के लोग
भोग के विरोध में न आए न गए कभी,
रहते रंगशाला के नायक बने हुए,
दैन्यहीन लीन रस-रूप में,
स्वार्थ-सुख छोड़ नहीं पाया कभी और ज्ञान,
अयि प्रकृति! लेते हैं प्राण वे
अपने प्राणों के लिए—
काकली कोयल की,
राग सान्ध्य षोडशी का
निज भोग के लिए;
और कोई, कवि, तुम, एक तुम्हीं—
बार-बार झेलते सहस्रों वार

निर्मम संसार के,
दूसरों के अर्थ ही लेते दान,
महाप्राण! जीवों में देते हो
जीवन ही जीवन जोड़

मोड़ निज सुख से मुख।
विश्व के दैन्य से दीन जब होता हृदय

\+ \+ \+

काँप उठते तब प्राण
वायु से पत्र ज्यों;

'निराला'-सा विशाल हृदय और अकुण्ठित विवेक उस युग में दूसरे किसी कवि को नहीं मिला।

ऊपर जिन प्रमुख कवियों का उल्लेख हुआ है, उस काल से पहले के या उसके आसपास बाद में आनेवाले प्रायः सभी कवि इनके प्रभाव-क्षेत्र से बाहर नहीं जा सके। वैसी ऊर्जस्विनी प्रतिभा अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ी।

कवि-श्री पन्त की कवि-प्रतिभा का परिचालन पुस्तकों द्वारा ही विशेष रूप से होता रहा या होता है, इसीलिए आत्म-चिन्तन या स्वानुभूति की मात्रा उनकी कविताओं में अत्यल्प मिलती रही है। एक उदाहरण, मोटे रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि की दूसरी कविता है—

"आमि बहु बासनाय प्रानपने चाइ,
बञ्चित क'रे बाँचाले मोरे।
ए कृपा कठोर सञ्चित मोर जीवन भ'रे।
ना चाहिते मोरे जा करेछो दान
आकाश आलोक तनु मन प्रान,
दिने दिने तुमी नितेछो आमाय
से महादानेरइ जोग्य करे,
अति इच्छार सङ्कट हते बाँचाये मोरे।
+ + +
पूर्ण करिया लबे ए जीवन
तव मिलनेरइ जोग्य क'रे
आधा इच्छार सङ्कट हते बाँचाये मोरे।"

पन्तजी इसी छाया पर अपनी लेखनी चलाते हुए 'गुंजन' की नवीं कविता में कहते हैं,

अधरों पर मधुर अधर धर,
कहता मृदु स्वर में जीवन—
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन धन!

पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन;
तत्क्षण राचेत करता मन—
ना मुझे इष्ट है साधन!

इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन,
जीवन की इच्छा है छल
इच्छा का जीवन जीवन।

+ + +

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन में बाधा-बन्धन;
साधन भी इच्छा ही है,
सम-इच्छा ही रे साधन !

रवीन्द्र के ही भावों को ज्यों-का-त्यों किंचिन्मात्र आलङ्कारिक पदावली से युक्त करके रख दिया गया है—वही 'अति-इच्छा' है और वही 'आधी इच्छा' है। ऐसे अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह तो हुई भाव-क्षेत्र की बात, यही स्थिति प्रायः प्रकृति-क्षेत्र की भी है, जिसमें पी० बी० शैली के अनुगमन का प्राधान्य है। आगे चलकर 'अद्भुत' से हटकर उनकी दृष्टि 'सामान्य' की ओर भी जाने लगी। मार्क्स के अध्ययन से जो वैचारिक परिवर्तन आया है, वह हृदय के भाव-पक्ष से अछूता ही है, और वह भी छायावादी पदावली पर आश्रित, इसलिए काव्य-क्षेत्र में उसकी मान्यता नहीं के बराबर है। सन् १६३६ में जनवादी विचार-धारा के लेखकों का लखनऊ में सम्मेलन हुआ और उसी समय वहीं 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना मुंशी प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुई। पन्तजी भी उधर आकृष्ट हुए और मार्क्स-प्रणीत विचार-सरणि पर दो कविता-संग्रह लिख डाले। आगे चलकर महर्षि अरविन्द का दर्शन आकर्षण बन गया, उस पर भी आत्म-चिन्तन एवं स्वानुभूति-विरहित रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। यदि वे पुस्तकों द्वारा परिचालित न होकर भारतीय लोक-जीवन में घुलकर रचनाएँ देते तो उनका कुछ स्थायी कृतित्व सम्मुख आया होता और उनसे जनता को एक विशेष प्रकार का बल मिलता।

श्री भगवती चरण वर्मा, श्री हरिवंश राय 'बच्चन' आदि का रचना-काल उपर्युक्त कवियों के कुछ पीछे है। श्रीबच्चन 'स्व' के कवि रहे हैं, समाज से उन्हें परिचय नहीं था। श्रीभगवतीचरण वर्मा पहले तो 'स्व' के ही भीतर मौज-मस्ती लेते रहे, किन्तु बाद में व्यापक जन-समुदाय पर उनकी दृष्टि गई और बड़ी सहृदयता के साथ उन्होंने बुद्धि के निकष पर भावनाओं को परख करके उन्हें कविताबद्ध करना आरम्भ किया। 'मानव' नामक कविता संग्रह में मानवता को विकास देनेवाली अनेक उत्तम रचनाएँ हैं। इनके कुछ ही बाद बिहार-प्रान्त के एक तरुण की आह्लाददायिनी, मर्म-स्पर्शिनी तान ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। यह एक ऐसा तरुण था जो कवि होकर ही पैदा हुआ था, जिसे जन्म से ही कवि-हृदय प्राप्त था, इसीलिए उसकी लोक-दृष्टि भी अकुण्ठित या बन्धन-विहीन थी। वह अन्तःप्रेरणा से कविताएँ गाता रहा, किसी दल या

वाद द्वारा परिचालित होकर नहीं। उसका नाम है, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'। आज 'दिनकर' की कविताओं के विकास-क्रम को दिखाने के पूर्व राष्ट्रीय कविताओं का विकास-क्रम दिखाना भी अपेक्षित है।

## राष्ट्रीय भावना उद्भव और विकास

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावना का प्रथम दर्शन हमें भारतेन्दु-काल मे होता है। भारतेन्दु-दल के प्रायः सभी लोगों की दृष्टि देश की गिरती हुई दशा पर गई थी। लोग इस बात का अनुभव करने लगे थे कि देश का धन विदेश चला जा रहा है और देश में ग़रीबी, अशिक्षा, और रोगों की वृद्धि होती जा रही है। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी भारतेन्दु के ही समान देश-दशा पर विषादपूर्ण रचनाएँ की हैं। जैसे—

> तबहिं लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटी को तरसत॥

उस काल में देश-दशा पर जिस व्यक्ति का ध्यान सब से अधिक आकृष्ट हुआ था वह थे पं० बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'। ये एक ऐसे व्यक्ति थे जो देश की राजनीति में घुलमिल गए थे। समय-समय पर अवसर के अनुकूल जो फुटकल कविताएँ इन्होंने लिखी हैं, वे बड़ी ही मार्मिक हैं और उनमें देश की दशा का वास्तविक चित्र खींचा गया है। उनके 'भारत-सौभाग्य' नाटक में राष्ट्रीय भावना का जैसा यथार्थ और सफल चित्रण हुआ है, वैसा किसी अन्य नाटक में देखने को नहीं मिला। सन् १८५७ की जन-क्रान्ति का बड़ा ही मार्मिक चित्र चौधरीजी ने उपस्थित किया है। भारतीय जनता के दमन द्वारा अंग्रेजों की बर्बरता और उनके शासन की पुनः प्रतिष्ठा के साथ देश से लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का क्रमशः प्रयाण बड़े मार्मिक ढंग से मानवीकरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस दृश्य के विषय में 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखा है—

'नाटक के आरम्भ के दृश्यों में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का भारत से प्रस्थान भारतेन्दु के 'पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी' से अधिक काव्योचित और मार्मिक है।'

चौधरीजी का सच्चा स्वदेश-प्रेम ही नाटक में मूर्तिमान् हो उठा है। विदेशी शासन-काल में पराधीन देश की जनता किस प्रकार धनहीन, अशिक्षित और

क्षीणवीर्य हो जाती है, इस सत्य की ओर, उन्होंने तीनों देवियों के विदेशीय-शासित देश से प्रस्थान द्वारा, संकेत किया है और अन्त में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना द्वारा भारत के पुनरुत्थान की आशा प्रकट की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनके समान देश-प्रेम की सच्ची अभिव्यक्ति किसी अन्य साहित्यकार द्वारा नहीं हो सकी। किन्तु तत्कालीन प्रायः सभी लेखकों और कवियों ने स्वदेश-सम्बन्धी लेख लिखे, कविकाएँ कीं। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, और श्री 'प्रेमघन' जी की बादवाली पीढी में बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि ने गद्य के माध्यम से स्वदेश-प्रेमपरक उत्तम लेख प्रस्तुत किए।

इसके अनन्तर राष्ट्रीय भावना का व्यापकस्वरूप श्रीमैथिलीशरण गुप्त की कृतियों में प्रकट हुआ। ई० सन् १६१३ में इनकी भारत-भारती प्रकाशित हुई, जिसमें देश के अतीत और वर्तमान का यथार्थ चित्र खींचा गया है। बाद में अपने प्रबन्धों में भी इन्होंने स्थान निकाल-निकालकर तत्कालीन कांग्रेसी आन्दोलनों की प्रतिष्ठा की है। राम के जीवन से संबद्ध 'साकेत' काव्य में भी सत्याग्रह, अहिंसा, किसानों और मज़दूरों के प्रति प्रेम का निदर्शन किया गया है। इनकी रचनाओं में स्वदेश-प्रेम का वही पहले से चला आता रूप ही दिखाई पड़ता है, किन्तु देश की दासता किस प्रकार दूर की जाय, विदेशी सत्ता का उच्छेद कितना आवश्यक है, इसकी ओर इनकी दृष्टि नहीं गई।

उस समय देश की जागर्ति के कारण राष्ट्रीय भावना का उदय व्यापक रूप से हो गया था। इसलिए ब्रजभाषा में रचना करनेवाले कुछ कवियों का ध्यान भी इस ओर गया और उन्होंने भी अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्र-प्रेम का परिचय दिया। श्रीवियोगी हरि ने तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों से प्रभावित होकर 'असहयोग वीणा', 'चरखे की गूँज', 'चरखा-स्तोत्र' आदि रचनाएँ प्रस्तुत कीं। बाद में इनकी 'वीर-सतसई' निकली, जिसकी रचना दोहों में हुई है। दोहा जैसा छन्द चुनने के कारण वीर-रसानुकूल ओज का अभाव इसमें अवश्य है, पर जहाँ तक भावों के चित्रण का सम्बन्ध है, वे बड़ी ही मार्मिकता के साथ चित्रित किए गए हैं। कुछ दोहे तो आजकल के ऐसे लोगों पर बड़े ही चुटीले हैं, जिनमें वीरता का कहीं लेश भी नहीं है, न शरीर में और न हृदय में, पर केवल फैशन के लिए झलमलाती मखमल की म्यान में सोने की मूठवाली तलवार लेकर निकलते हैं—

> या तेरी तरवार में नहिं कायर अब आब।
> दिल हू तेरो बुझि गयो, वामें नेक न ताब॥

इन्हीं के समकालीन श्रीदुलारेलाल भार्गव ने भी कविवर बिहारीलाल की पद्धति पर चलकर दोहावली की रचना की और उसका विषय भी वही शृङ्गार-प्रधान ही रहा, किन्तु समय की हवा से वे भी प्रभावित हुए और कुछ दोहे राष्ट्रीय-भावना के परिचायक भी लिख डाले। यह बात दूसरी है कि उनमें हृदय की प्रधानता न होकर कला ही प्रधान रही। ये दोहे अन्तःप्रेरणा के परिणाम न होकर समय-प्रवाह के परिणाम थे। उदाहरणार्थ दो-एक दोहे देखने का कष्ट करें,

> गांधी-गुरु तें ग्यॉन लै, चरखा-अनहद जोर—
> भारत सबद-तरंग पै बहत मुकति की ओर ॥

इन्होंने अछूतोद्धार, मन्दिर-प्रवेश आदि देश की सामयिक समस्याओं पर भी दोहे लिखे,

> रही अछूतोद्धार-नद, छुआछूत-तिय डूबि,
> सास्त्रन कौ तिनकौ गहति क्रांति भँवर सों ऊबि ॥
> कलिजुग ही मैं मैं लखी अति अचरजमय बात—
> होत पतित पावन पतित, छुवत पतित जब गात ॥

और धनादि सुख-साधनों के समान वितरण द्वारा समाज के वैषम्य को दूर करने का समाधान भी एक दोहे में प्रस्तुत किया,

> काम, दाम, आराम को सुघर समनुवै होइ,
> तौ सुरपुर की कलपना कबहूँ करै न कोइ ॥

इस प्रकार राष्ट्रीय भावना की झलक, देश के जागर्ति-काल में, प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र मिल ही जाती है, किन्तु देश भक्ति का जैसा व्यापक और प्रभविष्णु स्वरूप पं० रामनरेश त्रिपाठी की प्रबन्ध-कृतियों में देखने को मिलता है, वैसा उस काल के किसी भी दूसरे कवि में दिखाई नहीं पड़ता। इनके तीन प्रमुख प्रबन्ध काव्य हैं, मिलन, पथिक और स्वप्न। तीनों ही काव्यों की भाव-भूमियाँ मानव-जीवन से लेकर प्रकृति तक परिव्याप्त हैं। इन काव्यों में इनकी जो देश-भक्ति व्यक्त हुई है, उसमें इनकी हार्दिकता क पूरा-पूरा योग है। भारत जैसे देश के लिए ऐसे ही काव्यों की आवश्यकता है, जिनके द्वारा देशवासियों के हृदय में कर्म में तत्पर होने की प्रवृत्ति जगे; कामुकता, विलासिता और फैशन-परस्ती को छोड़कर देश के तरुण देश के प्रति अपने कर्तव्य को समझकर कर्म-प्रवृत्त हों। उस काल में लिखा गया देश का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करनेवाला इनका 'स्वप्न' नामक काव्य है, जिसकी कथा

इनके और काव्यों की भाँति ही कल्पित है। देश की युवतियाँ किस प्रकार युवकों का जीवन बदल कर उन्हें लोक-मङ्गल के पथ पर चलने को प्रेरित कर सकती हैं, इसका निदर्शन बड़ी सफलता से किया गया है। लोक-सेवा में ही जीवन का साफल्य है,

सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही, न कि उच्च स्थल॥

तत्कालीन प्रेम और वियोग के गीत गाने और रोनेवाले कवियों को भी परोक्ष रूप में काव्योचित ढंग से, 'वसन्त' नामक युवक के व्याज से, जो काव्य का कथानायक है और जिसने देश-दशा से आँखें फेरकर भोजपत्रों पर प्रेम-वेदना के गीत लिखकर पर्वतों, नदियों के तटों और वन-पथों पर बिखेर दिए हैं, समयोचित शिक्षा दी गई है। उस गुलाम के स्वकीय प्रेम-वेदना के गीतों का मानव-जगत् में कोई मूल्य नहीं जो अपने को तथा स्वदेश को दासता से मुक्त करने में अपनी सारी शक्ति न लगा दे। उस काल के हिन्दी के प्रतिनिधि कवि भी तो 'वसन्त' के समान यही करते थे,

'अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिम्बित अति निर्मल जलमय
नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय,
नीरवता में अन्तस्तल का मर्म करुण स्वर लहरी में भर,
प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा गाकर॥'

उसी काव्य में अन्यत्र देखिए,

'उमड़ घुमड़कर जब घमंड से उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे झूला करते हैं प्रतिवासर।
तड़ित-प्रभा या घन-गर्जन से भय या प्रेमोद्रेक प्राप्तकर,
वह भुज-बन्धन कस लेती है, यह अनुभव है परम मनोहर।
किन्तु उसी क्षण वह गरीबिनी, अति विषादमय जिसके मुँहपर
घुने हुए छप्पर की भीषण चिन्ता के हैं घिरे वारिधर,
जिसका नहीं सहारा कोई, आ जाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकलकर॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिपाठीजी सच्चे कवि की भाँति काव्य-क्षेत्र में उतरकर राष्ट्र की सेवा कर रहे थे। इनके तीनों ही काव्य काल्पनिक कथा-वस्तु को लेकर रचे गए हैं और सब में राष्ट्रीयता अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान है।

इनकी फुटकल रचनाओं में भी राष्ट्रीयता भरी हुई है। उदाहरण के लिए देखिए,

'मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मै देखता तुझे था माशूक़ के बदन मे॥'

खेद है कि उस समय त्रिपाठीजी के समान अन्य नए कवियों ने काव्य का यह मर्म-पथ नहीं पकड़ा और परिणाम-स्वरूप विदेशियों की नकल में ही काव्य का देशानुकूल स्वाभाविक पथ अवरुद्ध-सा हो गया। कुछ चिन्तक कवि अवश्य उधर आकृष्ट होते रहे, पर प्रतिभाशाली सशक्त कवियों के दूसरी ओर उन्मुख हो जाने के कारण आनेवाली पीढ़ी को कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक नहीं मिल पाया, जिसका अनुगमन वह करे। नूतनता-प्रेमी अंग्रेजी पढ़ने-लिखनेवाले युवक विदेश से असमयोचित प्रभाव ग्रहण करने लगे। इधर आकर हिन्दी-कविता उस रोग से मुक्त हो सकी है। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न', जो व्रज-भाषा के अनन्य उपासक थे, उन्होंने अपने 'भ्रमर दूत' नामक काव्य में देश-दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। उस काल के उन कवियों में, जिन्होंने व्रजभाषा अपनाई थी, ये ही एक ऐसे कवि थे, जो रीतिकालीन शृङ्गार-परम्परा से अलग रहकर समयोचित रचनाएँ व्रज-भाषा मे करते रहे। 'भ्रमर-दूत' की रचना यद्यपि अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के 'भ्रमर गीत' की शैली को लेकर हुई है, तथापि उसका वर्ण्य विषय आधुनिकता को लिए हुए है—

नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात यहाँ कहुँ॥
बढ़यौ जथेच्छाचारकृत जहँ देखौ तहँ राज।
होत जात दुर्बल बिकृत दिन-दिन आर्य-समाज॥
दिनन के फेर सों।

खड़ी बोली में व्रज-भाषा-सी सरसता और कोमलता लानेवाले श्री जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' को भी देश-भक्ति के पुरस्कार-स्वरूप कई बार कारावास मिला था और वे भी 'एक भारतीय आत्मा' की भाँति कांग्रेस के आन्दोलनों में क्रियात्मक योग देने के साथ ही साथ साहित्याराधन भी करते रहे। उनकी देश-भक्ति-परक कुछ रचनाएँ 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' नामक काव्य-संग्रहों में तो हैं ही, इनकी बाद की प्रकाशित 'वैकाली' में तो ऐसी कविताओं का प्राचुर्य है,

जिनमें देश-प्रेम मुखरित हो उठा है। 'शान्ति' नामक कविता में, जो उर्दू बंद में लिखी गई है, कवि कहता है,

"जब है क्यू-क्लेक्स क्लैन दुनिया में,
क्या हैं सिद्धान्त शान्ति के कोरे ?
गाड़ देना ही चाहते हैं जब,
जिन्दा कालों को गोर में गोरे।

राक्षसी वृत्तियाँ हैं राष्ट्रों की,
मौक़ा पाएँ तो बस हड़प जाएँ।
इनकी करतूत का जो नक़्शा चित्र,
देख लें आप तो तड़प जाएँ।

मोल लेते लड़ाई फिरते हैं
क्या नहीं ये खबीरा करते हैं ?
फिर भी दुनिया को पीसने के लिए
कान्फ़रेन्स आफ़ पीस करते हैं।"

उनकी 'प्रातःकालिक सन्देह' कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए,—

"उषा है या रक्त-कुण्ड प्रजा-अनुरक्तों के
किन्हीं देश-भक्तों के है रक्त से भरा हुआ।
पीने को साम्राज्यवाद पश्चिमीय दैत्य के
या कि बहाया हुआ ये रक्त दीन जन का।
व्यर्थ आया स्वर्ग से विनतवार करने,
निज देश-वासियों से ऐश में जो भूले हैं।
अङ्क में लिए है उषा रक्त-वर्ण सूर्य को,
या किसी स्वदेश के शहीद का ये मुण्ड है ?
जो कि रक्त-कुण्ड से है निकला अभी-अभी,
कर स्वार्थ-तम को विदूरित गगन से—
आलोकित करता हुआ ये स्वर्ग-लोक को,
पृथ्वी पै प्रसार कर कान्तिमयी किरणें।"

उसी में आगे की पंक्तियाँ हैं,

"यदि देश-धर्म के विरुद्ध भगवान भी
आएँ, तो है धर्म, उनसे भी युद्ध करना।"

'मजदूर', 'हाहाकार' आदि रचनाएँ सन् '२३ और '२६ की लिखी हुई हैं, जो युग-धर्मानुकूल पर्याप्त स्फूर्ति-प्रदायिनी हैं। ऊपर की उद्धृत कविताओं का रचना काल इसी के आस-पास ही है। इस प्रकार प्रगतिवाद का पूरा-पूरा स्वरूप इनकी रचनाओं मे उसी समय उभर आया था। इसके साथ ही भारतेन्दु-काल के कवियों की भाँति देश की पूरी संस्कृति उनकी कविताओं में मुखरित हो उठी है। किसी 'वाद' विशेष की सीमा मे आबद्ध न होने के कारण कवि-दृष्टि का व्यापक प्रसार उनकी रचनाओं में पाया जाता है। कवि पन्त की 'बादल' नामक लम्बी चित्र-कल्पना-प्रधान कविता को देखकर, इनकी 'बादल से' कविता देखिये और बताइए कि कौन-सी कविता में हृदय-पक्ष की प्रधानता के साथ यह भी प्रतीत होता है कि यह कविता भारत-भूमि पर खेले और पले हुए कवि की कृति है और जिसे पढ़कर भारतीय मन नाच उठे बिना न रहेगा—

"बरसो प्यारे काले बादल !

द्रवित दयानिधि के तुम दृग हो,
मन उज्वल, तन श्यामल चञ्चल।
"पीउ कहाँ" बस "पीउ कहाँ"
रटते रहते चातक निश्छलपर,
'काले मेया पानी देना" चिल्लाते
शिशुओं के दल पर।
रवि-उत्ताप-तपित वसुधा के
उर-मरु के विदग्ध रेतों पर,
रोते हुए, नितान्त दीन अवसन्न–
कृषक-जन के खेतों पर।
भग्न हृदय हो तरल बह चलो
अविरल अश्रु-धार बन छलछल।"

## छायावाद का अवतरण

छायावाद की हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठा होने के कारण कवि-जन कविता में अलौकिकता या चमत्कार लाने में प्रवृत्त हो गये, अतः हृदय-पक्ष प्रायः दब कर रह गया। यह अलौकिकता और चमत्कार विषय-वस्तु और भाषा दोनों ही में लाई जाने लगी। अंग्रेजी ही पढ़नेवाले तरुणों का

हृदय इस ओर विशेषतया आकृष्ट हुआ। किन्तु भावगत एवं भाषागत विचित्रता के कारण लोग उस समय भी छायावादी कविता का लक्षण यही कह पड़ते थे कि जो कविता समझ में न आए, वही छायावादी है। अर्थात् दुर्बोधता उसकी प्रमुख विशेषता मानी गई। जनता जिस रचना-विशेष को कविता समझती थी, उससे, नवीन कविता में किसी प्रकार का साम्य उसे नहीं मिला; भाषा, भाव और छन्द सभी विचित्रता लिए हुए। भाषागत विचित्रता लोगों को श्री सुमित्रानन्दन पन्त में मिली, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा से विमुग्ध होकर उसकी अभिव्यक्तियों का हिन्दीकरण कर डाला था। हिन्दी के पाठकों के लिए ऐसे प्रयोग अजायब-घर के विचित्र जानवरों-से अपरिचित और कुतूहलवर्द्धक प्रतीत हुये। जैसे अजान नयन, आँखों के बाल, विचारों में बच्चों की साँस, सोने का गान, मोती के चुम्बन, पत्रों की साँस आदि। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अत्यन्त मनोहर नए प्रयोगों की अवतारणा भी उन्होंने की है और इनकी रचनाओं द्वारा भाषा का शक्ति-वर्द्धन भी हुआ किन्तु यह भी सच है कि विगत इतिवृत्तात्मक खड़ी बोली की कविताओं और रीतिकालीन पिष्टपेषित भावों एवं रूढ़ तथा कृत्रिम अलङ्कार-युक्त भाषा की प्रतिक्रिया के आवेश में उन्होंने भाव एवं भाषागत चमत्कार लाने का भरपूर प्रयत्न भी किया, जिससे उनकी भाषा में कहीं-कहीं कलात्मकता की कृत्रिमता पाठकों के भाव-प्रवण हृदय को ठेस पहुँचानेवाली सिद्ध हुई। जहाँ तक भाव का सम्बन्ध है, पन्तजी के कोमल भावों ने उस समय हिन्दी पाठकों को सबसे अधिक संख्या में अपनी ओर खींचा। किन्तु 'वाद' के चक्कर में पड़ जाने से अपने सबसे प्रिय विषय प्रकृति के भी लोक-व्यापी स्वरूप की ओर उनकी दृष्टि न जाकर उसमें भी कल्पना के हाथों कला-पूर्ण बेल-बूटे ही बनाती रह गई। उस काल में उनकी दृष्टि मुख्य रूप से सौन्दर्य के ही उपकरण सँजोती रह गई। समाजवादी विचार-धारा से अवगत होने के पश्चात् जो रचनाएँ उन्होंने लोक-हित को दृष्टि में रखकर कीं, उनमें भी उनकी कलात्मकता ही प्रमुख रूप से मुखरित हुई, हृदय का सहज योग उनमें भी परिलक्षित नहीं होता, अतः वे बुद्धि पर नई विचार-धारा के क्षणिक प्रभाव का ही परिणाम सिद्ध हुईं।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के मनोभाव लोक और परलोक के बीच आँख-मिचौनी खेल कर लोगों को विस्मित करते रहे। हाँ, उनकी भाषा में कहीं उतना अजनबीपन आने नहीं पाया। उनके 'आँसू' काव्य ने उस समय अपने बहुसंख्यक पाठक बनाए। उनकी ये पंक्तियाँ तो लोगों की जिह्वा पर निरन्तर रहा करती थीं,

"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई।"

पर,

"मादकता से तुम आये संज्ञा से चले गए थे।"–

जैसी पंक्तियों को पढ़कर पाठक विस्मित हुए बिना न रहते थे। 'प्रसाद' की देश-भक्ति-द्योतिका रचनाएँ उनके नाटक हैं, जिनमें अनेक कविताएँ भी देश-भक्ति का ज्वलन्त प्रमाण हैं। प्रमुख रूप से 'प्रसाद' जी करुणा और प्रेम के गायक थे। उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास ऐसे ही स्थलों पर देखा जा सकता है। 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में देश की उत्पीड़ित दशा पर करुणामय गीत भी लिखे हैं, तरुणों को वीर-वाणी में आगे बढ़कर देश को स्वतन्त्र करने को ललकारा है और अतीत के गौरव का संस्मरण सुना-सुनाकर उनमें नवोन्मेष भरने का कार्य भी काल एवं स्थानानुकूल किया है। स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त इन दोनों रूपकों में उनका स्वदेश-प्रेम लहरें मारता दिखाई पड़ता है। असहायावस्था में भगवत्प्रार्थना के लिए प्रेरित करते हुए कभी वे कहते हैं–

"उतारोगे अब कब भू-भार?
बार बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार॥
उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार।
वाड़व लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार॥
प्रलय-पयोधर बरस रहे हैं रक्त-अश्रु की धार।
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार॥
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार?
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार॥"

और कभी अतीत गौरव की याद दिलाते हुए उद्‌बोधन का गीत सुनाते हैं–

'जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचण्ड समीर,
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।'

प्राचीन भारतीयता के आदर्श को वे भावावेश में भूलते नहीं–

'चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न,
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव;
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।"

अतः आज भी हमें अपने पूर्व गौरव को स्थापित करना चाहिए, हाथ पर हाथ धरे बैठना हमारी वीर-परम्परा के प्रतिकूल है,

"वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान।
जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।"

दूसरे रूपक 'चन्द्रगुप्त' में भी उनका उद्बोधन कितना सामयिक है,

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो बढ़े चलो!"

इस प्रकार सन् '२६, '२७ के आस-पास उन्होंने अपनी राष्ट्रीय भावना को वाणी दी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में वीरता और शृङ्गारिकता दोनों का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। वे इस छायावाद-युग के एक रस-सिद्ध कवि थे, किन्तु अपनी देश-भक्ति को उन्होंने प्रत्यक्षानुभूति के रूप में वर्तमान के धरातल पर उतरकर कभी व्यक्त नहीं किया, इसीलिए मुं० प्रेमचन्द ने एक बार उन्हें 'गड़े मुर्दे उखाड़नेवाला' कहा था। यह सच है कि कुछ शताब्दियों बाद प्रसाद जी की काव्य-कृतियों को पढ़कर यह कहकर मुश्किल होगा कि ये बीसवीं सदी के कवि थे। जिस प्रकार वे व्यक्ति रूप में समाज से दूर-दूर रहते थे, उसी प्रकार उनकी कृतियाँ भी आज के मानव-समाज से प्रायः दूर-दूर रही हैं।

छायावाद-युग की एक प्रमुख कवयित्री के रूप में श्रीमती महादेवी वर्मा का स्थान काफी ऊँचा माना गया है। किन्तु काव्य-कर्त्री के रूप में तो वे इस युग से बिलकुल ही 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रही हैं। कदाचित् ही उनकी कवयित्री को काव्य-रचना करते समय वर्तमान लोक-जीवन के बीच अपनी स्थिति का भान रहा होगा, उस ऐकान्तिक वेला में उनकी स्थिति उस समाधि-मग्न योगिनी-सी हो जाती थी, जिसकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख केवल उसका चिराराध्य परम-पति रह जाता है, और ज्ञानेन्द्रियाँ भी सुषुप्तावस्था में हो जाती हैं। उनका ऐसा गीत स्यात् ही कहीं दिखाई पड़ जाय—

'कह दे माँ, क्या अब देखूँ!
देखूँ खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को,

तेरी चिर - यौवन सुषमा
या जर्जर जीवन देखूँ !

सौरभ पी-पी कर बहता
देखूँ यह मन्द समीरण,
दुख की घूँटें पीती या
ठंढी साँसों को देखूँ !'

उनकी बुद्धि का यह आन्दोलन भी क्षणिक था, कवयित्री के रूप में उन्होंने कभी जर्जर जीवन की ओर दृक्पात नहीं किया, इसके लिए उन्होंने गद्य का क्षेत्र इसलिए चुना कि वहाँ बुद्धि का प्राधान्य रहता है और जहाँ हृदय-पक्ष की प्रमुखता रहती है, उनके उस क्षेत्र के उपयुक्त राष्ट्र या देश की समस्याएँ और दीन-दलित राष्ट्र या दीन-हीन लोक-जीवन नहीं था, इसीलिए काव्य-क्षेत्र में उनके प्रवेश-निषेध का क़ानून लागू कर दिया गया ! जिनमें उस काल में छाया-वाद या रहस्यवाद का स्वर प्रमुख था, उन्होंने भी समय की पुकार के आगे यदि सिर झुकाया भी, तो जैसे लोक-लज्जा से विवश होकर। इसीलिए जिन्होंने युग की समस्याओं को कवि-वाणी का रूप-दान करने का प्रयत्न किया भी उनकी रचनाएँ पद्य मात्र होकर रह गई', कविता न हो सकीं। उस युग के महापुरुष महात्मा गान्धी पर हमारे छायावादी कलाकारों ने जो प्रशस्तियाँ प्रस्तुत कीं, उनमे भी बौद्धिक व्यायाम का चमत्कार मात्र ही देखने को मिला, हृदय की झाँकी पाने को पाठक तरसते ही रह गए। पं० सोहनलाल द्विवेदी की जैसी कविता कोई भी देने में समर्थ नहीं हुआ। उनकी 'युगावतार' कविता में हृदय की वाणी उतर आई है, इसीलिए वहाँ शाब्दिक चमत्कार को अव-काश नहीं मिल सका,

'चल पड़े जिधर दो डग मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
चल पड़ी जिधर भी एक दृष्टि, गड़ गए कोटि दृग उसी ओर !
जिसके सिर पर निज धरा हाथ उसके शिर-रक्षक कोटि हाथ;
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गए उसी पर कोटि माथ।
हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु ! हे कोटि रूप ! हे कोटि नाम !
तुम एक मूर्ति प्रतिमूर्ति कोटि, हे कोटि-मूर्ति तुमको प्रणाम !

\+ + + +

तुम काल-चक्र के रक्त-सने दशनों को कर से पकड़ सुदृढ़;
मानव को दानव के मुँह से ला रहे खींच बाहर बढ़-बढ़।

पिसती कराहती जगती के प्राणों में भरते अभय-दान,
अधमरे देखते हैं तुमको, किसने आकर यह किया त्राण ?'

यदि हृदय भावना-शून्य है तो लेखक या कवि शाब्दिक-आडम्बर चाहे कितना ही आकर्षक खड़ा क्यों न करे, वह मानव-मन में स्थान नहीं पा सकता, और उसकी जीवनी-शक्ति भी पानी के बुलबुले से अधिक स्थायी नहीं हो सकती। आदि कवि का जो शोक श्लोक बन गया था, वह शोक उनके व्यक्तिगत दुःख से उद्भूत नहीं हुआ था, वह क्रौंच पक्षी की पीड़ा से उत्पन्न हुआ था। उन्होंने निषाद को शाप दिया था, इसलिए कि उसने क्रौंच के एक सहचर को मार डाला था, उस समय उनकी मानवता पुकार उठी थी,

"मा निषाद प्रतिष्ठाँस्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च - मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

छायावाद के जोश में गर्वोन्नतशिरस्क कुछ हिन्दी के कवियों ने यह शोर उठाना आरम्भ किया था कि 'कला का निर्माण, किसी ध्येय को लेकर ज़रा मुश्किल से होता है।' मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि आपकी कौन-सी ऐसी कृति है, जिसे आपने निरुद्देश्य लिखा और वह आज भी हिन्दी पाठकों की ज़बान पर ज्यों-की-त्यों अङ्कित है ? अमरत्व की बात तो अभी छोड़ ही दीजिए। आज तक संसार के किसी भी कवि की ऐसी कला-कृति अमरत्व-लाभ नहीं कर सकी जो ध्येयहीन, उपयोगिता-शून्य लिखी गई थी। अपने को महात्मा गान्धी का परम भक्त माननेवाले छायावाद के किस कवि ने उनकी सेवा में अपना हृदय इस प्रकार उँडेल दिया, जिस प्रकार वाद-मुक्त स्वच्छन्द कवियों ने। पं० ब्रजनारायण 'चकबस्त' ने भी गांधीजी की सेवा में लिखा था, जिसे पढ़कर हृदय आज भी तड़प उठता है। उन्होंने उस समय लिखा था, जब महात्माजी अफ्रीका में अपना असहयोग आन्दोलन चला रहे थे—

"वतन से दूर तबाही में है वतन का जहाज़,
हुआ है ज़ुल्म के पर्दे में हश्र का आगाज़।
सुनें तो मुल्क के हम-दर्द क़ौम के दमसाज़,
हवा के साथ यह आई है दुखभरी आवाज़।
वतन से दूर हैं हम पर निगाह कर लेना,
इधर भी आग लगी है ज़रा ख़बर लेना।
लुटे हैं यों कि किसी की गिरह में दाम नहीं,
नसीब रात को पड़ रहने का मुक़ाम नहीं।

यतीम बच्चों के खाने का इन्तज़ाम नहीं,
जो सुबह खैर से गुज़री, उमीदे शाम नहीं।
अगर जिए भी तो कपड़ा नहीं बदन के लिए,
मरे तो लाश पड़ी रह गई कफ़न के लिए।
नसीब चैन नहीं भूख-प्यास के मारे,
हैं किस अज़ाब में हिन्दोस्तान के प्यारे।
तुम्हें तो ऐश के सामान जमा हैं सारे,
वहाँ बदन से रवाँ हैं लहू के फौवारे।
जो चुप रहें तो हवा क़ौम की बिगड़ती है,
जो सर उठाएँ तो कोड़ों की मार पड़ती है।

\+ + + +

फ़िदा वतन पै जो हो आदमी दिलेर है वह,
जो यह नहीं तो फ़क़त हड्डियों का ढेर है वह।"

यह है उस ज़माने की 'चकबस्त' जी की सोद्देश्य रचना और कोई छायावादी दिखलावे अपनी निरुद्देश्य रचना में यह हृदय-हारिणी शक्ति!

कहते हैं कि छायावादी कवियों की रचनाओं का विषय 'प्रेम' है, पवित्र और निर्मल। ठीक, यह प्रेम तो काव्य-साहित्य का जीवन है, बिना प्रेम के काव्य-रचना हो भी नहीं सकती। पर जब यह शाश्वत प्रेम व्यक्तिगत जीवन की परिधि में सीमाबद्ध कर दिया जाता है अथवा यों कहें कि जब कवि अपना सारा प्रेम अपनी प्रेयसी-विषयक मिलन-विरह की शृङ्खला में जकड़ देता है, तब वह एक ऐसे जलाशय-सा होकर रह जाता है, जिसे चारों ओर से घाटों द्वारा बाँध दिया गया हो। और जब उस प्रेम को वासनात्मक अभिलाषाओं में जकड़ दिया जाता है, तब वह शराब में मिश्रित गंगा-जल हो जाता है। बहुत-से लोगों को मदिरा अच्छी लगती है और वे मदिरा-पान के समर्थन में वैदिक-काल से लेकर आज तक की मनोहारिणी युक्तियाँ पेश करते हैं, किन्तु भारतीय सांस्कृतिक हृदय को मदिरा से घृणा ही रही है, यह कहने की ज़रूरत नहीं है। उस काल के प्रख्यात कवियों की रचनाओं में भी आगे चलकर वासना चिक या पर्दे की आड़ से ताकने-झाँकने लगी थी, और वह प्रकारान्तर से रीतिकालीन कविताओं का स्वरूप ग्रहण करने लगी थी, इसके उदाहरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। प्रेम वही प्रशंसनीय होता है जो एक छोटे-से मेघ-खण्ड-सा आरम्भ में दिखाई देकर समस्त आकाश-मण्डल को छेंककर अपनी

शीतल छाया का, अपनी पुञ्जीभूत रस-राशि का मुक्तहस्त दान करके सारी जगती का त्राण कर ले। प्रेम का मङ्गलमय आदर्श यह है—

'तुलसी चातक माँगनो एक, एक घन दानि।
देत जो भू-भाजन भरत, लेत जो॰ घूँटक पानि॥'

प्रिया के लिए रोने-बिसूरने को ही प्रेम नहीं कहते, समस्त लोक मङ्गल-विधायिनी भावनाओं के मूल में प्रेम का ही पुनीत निवास रहता है। हमारे कुछ कवि-जन भारत की करोड़ों दीन-हीन एवं दलित जनता के प्रति तो प्रेम करने में नाक-भौं सिकोड़ते हैं, किन्तु अपनी काल्पनिक कृतियों में अलापते हैं विश्व-बन्धुत्व का राग। इससे महान् दम्भ और क्या हो सकता है! 'निराला' की 'दान' कविता ऐसे अवसर पर याद आ ही जाती है, जब वे प्रातः टहलने के लिए निकले नदी के किनारे, पहुंचे पुल पर और देखा—

'एक ओर पथ के कृष्णकाय
कङ्कालशेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य-दुर्बल
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल।
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास।
+ + +
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा:—
विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल, तिल,
लेकर झोली आए ऊपर
देखकर चले तत्पर वानर।
द्विज राम-भक्त, भक्ति की आश
भजते शिव को बारहो मास;
कर रामायण का पारायण
जपते हैं श्रीमन्नारायण।
+ + +
झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिए;

देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।'

अनुभूति और भावों की सत्यता जब कवि-वाणी से अकस्मात् बहिर्गत हो पड़ती है, तब अपनी सच्चाई में वह अपने आप साहित्य की एक चिरन्तन निधि बन जाती है और ढोंग एवं कृत्रिमता का पर्दाफ़ाश होते देर नहीं लगती। जब विशाल प्रासाद का निर्माण हो जाता है, तब उसमें रहना अच्छा लगता है, देखनेवालों की आँखें भी वहाँ टिक जाती हैं; जब सड़क पक्की बन जाती है तब उस पर मोटर से, रिक्शे से अथवा पैदल चलने में भी आनन्दोपलब्धि होती है, उसे देखकर आँखों को भी सुख मिलता है; वे भी शीतल होती हैं, किन्तु उनके निर्माण में जिन्हें एँड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता है, उनके श्रम की ओर जिनकी आँखें न रुकें, उनके कङ्कालावशिष्ट शरीर को भी स्वस्थ एवं मांसल बनाने की लालसा जिनके हृदय में उद्वेलित न होने लगे, उन्हें मनुष्य कहना, मानवता का तिरस्कार करना है। विक्रम के उस स्वर्ण-युग में रहनेवाले कालिदास की दृष्टि उन श्रमिक मालिनों पर भी पड़ी, जो फूल चुनती हुई पसीने में तर ब तर थीं और मेघ से उन्हें भी शीतल छाया का दान करने की प्रार्थना करना उनका यक्ष उस समय भी नहीं भूला जब कि वह वियोग-व्यथा से चेतना-चेतन के ज्ञान को भी खो चुका था। वह साथ ही उपवन की यूथिकाओं को सींचने का भी अनुरोध करता है, जिससे उन्हें सींचनेवाले मालियों का श्रम भी कम हो जाय,

"विश्रान्तः सन्व्रज वननदी - तीर - जातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नव - जलकणैर्यूथिका - जालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावी - मुखानाम्॥"

और महाकाल पर चँवर डुलाती हुई उन वेश्याओं को भी शीतलता एवं विश्राम देने की प्रार्थना करता है, जिनके हाथ चँवर डुलाते-डुलाते थक गए होंगे,

"पादन्यासैः क्वणित-रशनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छाया-खचित-बलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तोनखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर-श्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥"

श्रमिकों को सुख पहुँचाकर उनके हृदय को जीता जा सकता है, अन्यथा उनके शान्त हृदय को क्लेश पहुँचाकर महती हानि उठाने की भी सम्भावनाएँ

बनी ही रहती हैं। कवि की दृष्टि महान् से लघु तक, सुन्दर से असुन्दर तक, मनोहर से भीषण तक सर्वत्र पहुँचनी चाहिए, सच्चे कवि की दृष्टि एकदेशीय नहीं होती। उसके हृदय में प्रतिभा का वह जादू होता है, जो लघु को महान्, असुन्दर को सुन्दर और भीषण को मनोहर बना देता है। वही कवि लोकाराध्य होता है जो अपनी कृतियों द्वारा लोकाराधन एवं लोक-मंगल का विधान करता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपनी बुद्धि-शक्ति का दुरुपयोग करके लोक के सामूहिक संहार का निर्माण कर सकता है, उसी प्रकार एक प्रतिभाशाली कवि भी अपनी प्रतिभा को कुपथगामिनी बनाकर समाज और देश को अधःपतन के, विनाश के, गर्त में गिरा सकता है। क्योंकि वह अपनी कृतियों के सम्मोहन से लोक की कुप्रवृत्तियो को जाग्रत करके उन्हें हिताहित-ज्ञान-शून्य कर देता है। यदि कवि की प्रतिभा सामूहिक मङ्गल-विधान की ओर प्रवृत्त हुई, तो वह राणा-प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल और सुभाष जैसों को जन्म देती है। विपथगामी बनानेवाली कवि-प्रतिभा विलासी और लोक-रक्त-शोषक मानवताविहीन मानव-रूपधारी दानवों का सर्जन करती है। हमारे आठ-नौ सौ वर्षों के भीतर होनेवाले हिन्दी-कवियों में इन दोनों प्रकार के कवियों का अभाव नहीं।

हिन्दी-साहित्य के छायावाद-काल ने खड़ी बोली को कवि-वाणी दी, यही उसकी सबसे बड़ी देन है। पश्चिम की नाना प्रकार की विचार-धाराओं के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप काव्य-क्षेत्र में उनका विभिन्न कवियों द्वारा पल्लवन भी हुआ, और उत्तरोत्तर लोक-चेतना की जागर्ति और उसका विकास होता गया। आत्मचिन्तन और आत्मविश्वास के अभाव के कारण कुछ कवि-जन नये प्रयोगों के चक्कर में कविता के कण्ठ पर कुठार उतारने में भी इधर यत्नशील दिखाइ पड़ रहे हैं। कालिदास ने तो कहा था,

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चेति काव्यं नवमित्यवद्यम्।'

उनका 'सर्व' शब्द यह बतलाता है कि जो कुछ पुराना है, सभी न अवद्य है, और न अनवद्य ही, वही बात नवीन के प्रति भी उन्होंने कही और उसकी कसौटी उन्होंने विद्वान् पाठकों की बुद्धि को, चिन्तन-शक्ति को माना। इस आत्म-चिन्तन के अभाव के कारण आधुनिक हिन्दी-काव्य में बहुत-सा प्रतिगामी साहित्य भी कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया, प्रस्तुत किया जा रहा है। बचपन में अनुकरण-शक्ति की प्रधानता होती है और जो-जो नई चीज़ें सामने आती हैं, सभी अच्छी लगती हैं। हिन्दीवालों के सम्मुख भी पश्चिम की मनोमोहक विचार-प्रतिमाओं ने एक-एक करके सामने आकर अपनी अनु-

गामिता के लिए विवश किया, वह हिन्दी की आधुनिक कविता की शिशुता थी। छायावादी कवियों ने प्रतीकवाद ( Simbolism ) को अपनाया। उस काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डब्ल्यू० बी० यीट्स, शैली, टेनीसन, वर्लेन, मलार्मे, वैलरी, रिक ( Rilke ) ने लोगों के बाल-हृदय को सहसा खींचा और जो चीज़ें अपने यहाँ की थीं, उनमें, चिर-परिचय होने के कारण, कोई आकर्षण दिखाई न पड़ा। हमारे संस्कृत के विशाल वाङ्मय में राजनीति की नाना प्रकार की विचार-धाराओं का विमर्श प्रस्तुत किया गया है, राजनीतिक समस्याओं के अतिरिक्त समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक विभिन्न पक्षों पर भी प्रचुर साहित्य विद्यमान है। दर्शन तो भारत के घर की वस्तु है, जिसका आलोक यहीं से धीरे-धीरे पश्चिमी देशों में पहुँचा, किन्तु नए के लोभ से हमारे विश्वविद्यालयों के नव-शिक्षित युवकों की दृष्टि उधर ही जमी रह गई, अपनी ओर उनकी दृष्टि लौटकर आना पसन्द नहीं करती थी।

महात्मा कबीर से आपाद-मस्तक प्रभावित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि का अनुकरण बड़े चाव से किया गया, किन्तु हिन्दी के कबीर उपेक्षित ही रहे, प्रकृति-प्रेम भी अंग्रेज़ी के रोमैण्टिक कवियों के अनुकरण पर ही चला, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण आदि की ओर दृष्टि नहीं गई थी। इसी प्रकार देश की आधुनिक दरिद्रावस्था, धनिकों की चरित्र-हीनता आदि के टक्कर के सफल चित्रण के साथ उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठा का जो वरेण्य कौशल शूद्रक ने मृच्छकटिक में दिखाया था, उधर हमारी दृष्टि आज तक न गई, और हम मार्क्स-प्रतिष्ठित साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित यूरोपीय साहित्य की ही ओर टक-टकी लगाए रह गए। वह आधुनिक हिन्दी-काव्य की शैशवावस्था थी, जब कि लोगों की दृष्टि अपनी ओर, आत्मीय वस्तुओं की ओर न टिककर विदेशी अथच नवीन वस्तुओं में अधिक आकर्षण पाती रही। यहाँ तक कि, भारत के नव-शिक्षित विश्वविद्यालयों के अधिकतर छात्र, अपनी वेश-भूषा, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति को तिलाञ्जलि देकर विदेशी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य को अपने जीवन का आदर्श बनाकर चलने लगे थे और बात-बात में अपने विचारों के समर्थन के लिए पश्चिमीय विचारकों के वाक्यों को प्रमाण-स्वरूप पेश करके गर्व का अनुभव करने लगे थे। इसीलिए पश्चिम से प्रभावित कवियों की रचनाओं में जीवन के लिए आवश्यक जागर्ति, सजीवता, ज़िन्दादिली का अभाव ही अधिक दीखा; विषाद, निराशा का स्वर काव्य में प्रमुख हो उठा और उसमें भारतेन्दु-काल के लेखकों से लेकर पं० श्रीधर पाठक, पं० मुकुटधर पाण्डेय और पं० बदरीनारायण भट्ट तक के लेखकों की-सी ज़िन्दादिली नहीं आ पाई।

सौंदर्य-चयन और असफल प्रेम-विषाद के ही स्वर उस काल में सब से ऊँचे सुनाई पड़े। अंग्रेज़ी से प्रभावित होने के कारण उसमें अपनी भाषा से अधिक सौंदर्य दिखाई पड़ा, अतः कुछ नए शब्द, नई अभिव्यक्तियों के आनयन के अतिरिक्त हिन्दी के व्याकरण में भी तराश-ख़राश करने की कोशिशें हुईं।

अपनी इसी अतीत और वर्तमान काव्य-भूमि पर हमारे आलोच्य कवि 'दिनकर' का उदय हुआ।

---

# कृतियों का अध्ययन

# रेणुका

श्री 'दिनकर' की प्रथम कृति रेणुका ऐसी निकली, जिसने लोगों को अधिक संख्या मे अपनी ओर आकृष्ट किया। यह कविताओं का संग्रह पहले-पहल सन् १६३५ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के आरम्भ में 'मगल आह्वान' करता हुआ कवि विराट् गायक से अपनी 'वंशी पर युग-युग के गायन गाने' का अनुरोध करता है और फिर साथ ही शृङ्गी फूँकने का आदेश माँगता हुआ यह भी कहता है,

"कर आदेश फूँक दूँ शृङ्गी
उठे प्रभाती राग महान,
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में
जागें सुप्त भुवन के प्राण।

गत विभूति, भावी की आशा
ले युग-धर्म पुकार उठे,
सिंहों की घन-अन्ध गुहा में
जागृति ही हुङ्कार उठे।"

और इतने से ही सन्तुष्ट न होकर अर्थात् मधुर गीत गाने और उत्साह की शृङ्गी फूँकने के अतिरिक्त, खुलकर रो लेने की क्षमता की माँग भी उपस्थित करता है,

'जिनका लुटा सुहाग, हृदय में
उनके दारुण हूक उठे,
चीखूँ यों कि याद कर ऋतुपति
की कोयल भी कूक उठे।'

यह रोदन अतीत गौरव की स्मृति से उद्भूत होगा,

'प्रिय दर्शन-इतिहास कण्ठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने,
वर्तमान की चित्रपटी पर
भूत काल सम्भाव्य बने।,

कवि उसी परम्परा का परिवर्तन-जन्य नवीन सहज विकास चाहता है, जिसमें वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी जैसी प्रतिभाएँ उत्तरोत्तर विकसित होती आई हैं। कविद्वारा इस आह्वान में अपनी कविता की भूमिका प्रस्तुत कर दी गई है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह अपने स्वच्छन्द कवि-स्वरूप को किसी साँचे में ढाल कर सीमित बनाने का पक्षपाती होना पसन्द नहीं करता। वह युग-युग से युगानुयुग को प्रेरणा देनेवाले कवि को किसी कानून के शिकञ्जे में बाँधकर उसकी प्रतिभा को बन्दिनी बनाकर उसके उन्मुक्त हृदयोद्गारों को रुद्ध करके उसे यन्त्रवत् पर-चालित बनाने के कतई विरुद्ध है। इस संग्रह में इस आदर्श की पूर्णतया रक्षा भी की गई है। इसकी सभी रचनाएँ सहज कवि के सहज उद्गार हैं। कहीं वन-विहगों से उन्मुक्त कण्ठ के गीत हैं, कहीं अदम्य उत्साह से ललकार है और कहीं वर्तमान के अङ्क में बैठकर अतीत की स्मृति के आँसू हैं। हम इन तीनों प्रकार की कविताओं पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे और सूची-कटाह-न्यायानुसार पहले कवि के प्रभाती राग को सुनेंगे।

## प्रबोधनात्मक कविताएँ

आत्म-युगीन समाज में आर्थिक वैषम्य को देखकर कवि के हृदय में रोष का आविर्भाव होता है और उस वैषम्य के प्रशमन का निदान करते हुए कवि सारे संसार के ध्वंस की कामना बड़े ही ओजस्वी शब्दों में प्रकट करता है। इस संग्रह की प्रथम रचना 'ताण्डव' है, जिसमें हुंकृति और झंकृति का आवेश ही विशेष है; पाठकों के हृदय को स्पर्श कर सकनेवाली भावना का चित्रण न करके केवल यही कहना कि जो कुछ संसार में है, सब नष्ट हो जाय—अर्थात्

विशुद्ध प्रलय की कामना, लोक-मंगल-कारिणी नहीं कही जा सकती,

> डिम-डिम डमरु बजा निज कर में
> नाचो नयन तृतीय तरेरे,
> ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो
> चिता-भूमि बन जाय अरेरे!

यह प्रलय-कामना व्यक्त की गई है नटवर शङ्कर से। किन्तु कवि की यह कामना ही प्रतीत होती है, ऐसी रचनाओं को देख-पढ़कर पाठक के हृदय में किसी प्रकार का उद्बोधन नहीं होता। यहाँ तक तो ठीक है,

> 'गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
> लगे आग इस आडम्बर में;
> वैभव के उच्चाभिमान में,
> अहङ्कार के उच्च शिखर में।'

पर यह कहना,

> घहरें प्रलय-पयोद गगन में,
> अन्ध धूम्र हो व्याप्त भुवन में,
> बरसे आग, बहे झंझानिल
> मचे त्राहि जग के आँगन में।
>
> फटे अतल-पाताल, धँसे जग, उछल उछल कूदें भूधर।'

एक प्रलाप से अधिक मूल्य नहीं रखता। ऐसी ही ध्वंसकरी कामना पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी कभी व्यक्त की थी, उसी 'विप्लव गायन' की प्रतिध्वनि इस 'ताण्डव' में भी सुनाई पड़ती है। उन्होंने कहा था,

> "नाश! नाश!! हाँ महानाश!!! की
> प्रलयङ्करी आँख खुल जाए।"

अच्छा हुआ कि आगे चलकर प्रलय-कामना की भावना समाप्त हो गई। संग्रह की दूसरी रचना 'हिमालय के प्रति' में कवि की राष्ट्रीय भावना सुन्दरता से व्यक्त हुई है। भारत देश की लम्बी दासता, गरीबी और अपमान के दिग्दर्शन के साथ-साथ कवि ने देश के गौरवमय इतिहास पर भी ध्यान दिया है और अतीत से प्रेरणा प्राप्त करने का संकेत भी करता है। राम, कृष्ण, चन्द्रगुप्त, अशोक, बुद्ध, लिच्छवी राजे और बंगाल के नवाबों तक को कवि ने गर्व की दृष्टि से देखा है तथा 'सीराज' को भारत का अन्तिम ज्योति-नयन कह कर

पुकारा है। किन्तु उसके हृदय से कविता उतर पड़ी है इन पंक्तियों में,

'जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सीमापति! तूने की पुकार—
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार',—

उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा सङ्कट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक विविध व्याल।

+ +

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर!'

इस कविता में भी एक स्थान पर जो 'प्रलय-नृत्य' की कामना व्यक्त हुई है, उसे लाक्षणिक ही समझना चाहिए। इस कविता में कवि ने मनुष्यता का पूर्ण विकास करुणा से उत्पन्न उस क्रोध और उत्साह में दिखाया है जो लोक को अन्याय के सक्रिय विरोध के लिए शक्ति-प्रदान करते हैं।

## अतीत की स्मृति

बिहार एक ऐसा प्रान्त है, जहाँ स्थान-स्थान पर भारत के दूरातीत वैभव के अवशेष खुली आँखों में आ ही जाते हैं और इतिहास प्रेमियों के लिए तो पाटलिपुत्र, वैशाली, नालन्दा, मिथिला और उत्तर में युग-युग से खड़ा गगन-चुम्बी नगराज हिमालय तीर्थ हैं ही; जिन्हें देखते ही मानस-पट पर गौतम, गुप्तवंशीय अश्वमेध-पराक्रम समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त, अशोक आदि महान् पुरुष उतर आते हैं। इतिहास के छात्र होने के नाते प्रारम्भ में श्री 'दिनकर' अतीत में ही रहते और विशेष रूप से उसी से प्रेरणा प्राप्त करते रहे, उस अन्तःस्थ अतीत के सम्मुख जब प्रत्यक्ष वर्तमान उतर पड़ता था, तब कवि का गर्व वेदना और करुणा में परिणत हो जाया करता था। अतः रेणुका-कालीन कवि की राष्ट्रीयता करुणा-वाहिनी के रूप में ही विशेषतः प्रवाहित हुई है, जिसमें

कवि की विवशता ही विशेषतः मुखरित होती रही और उसमें कर्म-क्षेत्र में उतारनेवाले उत्साह और साहस का यत्किञ्चित् अभाव रहा है। इसीलिए इस प्रकार की रचनाएँ वेदना की सन्देश-वाहिका का कार्य करती हैं और कहीं-कहीं कवि का पलायनवादी स्वर कानों मे आ टकराता है। उदाहरण के लिए 'पाटलि-पुत्र की गंगा से' को ये पंक्तियाँ—

'देवि ! दुखद है वर्तमान की यह असीम पीड़ा सहना,
कहीं सुखद इससे संस्मृति में है अतीत की रत रहना।'

भारत के पराधीनता-काल में देश की दरिद्रावस्था के शूल से बिंधकर जो घाव या व्रण कवि के हृदय में हो गया था, उस पर वह वैभवशाली अतीत का मरहम लगा-लगा शान्ति पा लिया करता है। गङ्गा के तटपर बैठकर वह उससे बातें किया करता है, अतीत के सम्राटों की, भारत के स्वर्ण-युग की और कभी-कभी खीझकर-रीझकर उसे दो-चार खोटी-खरी भी सुनाने से चूकता नहीं। गोस्वामी तुलसीदास के भरत जब ननिहाल से लौटकर अयोध्यापुरी मे आए और यहाँ अपनी माता कैकयी से जब उन्हें अयोध्या के उजड़ जाने का कारण विदित हुआ, तब उन्होंने खीझकर यही कहा था—

'जब तें कुमति कुमत जिअँ ठयेऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयेऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥'

और महात्मा सूरदास की गोपियाँ मधुवन को कृष्ण के वियोग मे भी हरा-भरा देखकर अपनी खीझ इन शब्दों मे प्रकट करती हैं,

''मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह-बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे !
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा, स्यार और बन के पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन मे, काहे न उकठि परे ?''

और यशोदा भी नन्द से खीझकर कह बैठती हैं,

''छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो॥''

पाटलिपुत्र की गङ्गा से बातें करते हुए श्री 'दिनकर' के हृदय में ठीक वैसी खीझ होती है और वे गङ्गा का खोटी-खरी सुनाने लगते हैं—

'धधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार,

एक-एक कर लगा दहकने
मगध-सुन्दरी का शृंगार।

जिस दिन जली चिता गौरव की
जय-भेरी जब मूक हुई,
जमकर पत्थर हुई न क्यों
यदि टूट नहीं दो टूक हुई?'

और अन्त में वही अतीत वैभव का मरहम लगाकर कवि सन्तोष की साँस ले लेता है—

'सम्प्रति जिसकी दरिद्रता का
करते हो तुम सब उपहास,
वहीं कभी मैंने देखा है
मौर्य-वंश का विभव-विलास।'

कवि 'मिथिला' नाम्नी रचना में भी अतीत-काल के उसके ज्ञान और सम्पत्ति के वैभव का स्मरण और तज्जन्य विषाद का वर्णन मिथिला के ही मुँह से बड़े ही प्रभविष्णु रूप में कराता है। इसमें मिथिला नगरी का आलंकारिक ढग से मानवीकरण ( Personification ) किया गया है। आज की ध्वस्त मिथिला स्वयं कहती है—

'मैं क्षीणप्रभा, मैं हतआभा,
सम्प्रति भिखारिणी मतवाली,
खँडहर में खोज रही अपने
उजड़े सुहाग की हूँ लाली।

मैं जनक, कपिल की पुण्य जननि,
मेरे पुत्रों का महाज्ञान;
मेरी सीता ने दिया विश्व—
की रमणी को आदर्श-दान।'

इसी प्रकार वह आत्म-परिचय देती हुई वैशाली के लिच्छवि-वीरों, कवि विद्यापति आदि को अपने पुत्र बताती हुई अपनी वर्तमान दयनीय दशा का चित्रण इस प्रकार करके चुप हो जाती है—

'बिखरे लट, आँसू छलक रहे,
मैं फिरती हूँ मारी—मारी,

कण-कण में खोज रही अपनी
खोई अनन्त निधियाँ सारी।
उजड़े उपवन की मालिन, उठती मेरे हिय विषम हूक;
कोकिला नहीं, इस कुञ्ज बीच रह-रह अतीत-सुधि रही कूक।'

मानवीकरण के साथ-साथ यहाँ अपह्नुति अलंकार ने आकर काव्य-सौन्दर्य को बढाया ही है। रूप-विधान के कारण एक नारी की करुणोत्पादिनी मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है। किन्तु अपनी इस करुणमूर्ति को सामने रखकर वह अपने वर्तमान पुत्रों से अपनी दशा को सुधारने के लिए कुछ कहती नहीं और न ही उनकी अकर्मण्यता पर उन्हें फटकारती है, मानो वह नारी किसी दूसरे देश में चली गई हो, जहाँ के लोग उसे बेगाना समझते हों। अतः वह मन मारकर चुप ही रह जाती है। कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास ने रघुवंश काव्य में अयोध्या की नगर-देवी को नारी रूप में महाराज कुश के सम्मुख उपस्थित किया है। उस समय अयोध्या भी परित्यक्ता थी, वहाँ चारों ओर खँडहर दिखाई पड़ते थे, जिनमें वन्य-जन्तुओं ने अपना डेरा डाल रखा था। रामचन्द्र महाराज के समय की वैभवशाली और अलकापुरी से होड़ लेने वाली पुरी महा-श्मशान-भूमि सी हो गई थी। जिन बावलियों और केलि-सरोवरों में पौराङ्गनाएँ जल-केलि किया करती थीं, उन्हीं में वन्य भैंसे लोटते रहते थे। अपनी अत्यन्त दयनीय दशा का महाराज कुश के सामने चित्र खींचकर उसने फिर से अयोध्या को पूर्ववत अलंकृत करने की प्रार्थना की थी और कुशावती नगरी को छोड़ने का आग्रह भी किया था। अतीत के साथ वर्तमान की तुलना जिस रूप में उस वाक्सिद्ध कवि ने की है, वह देखते ही बनती है—

"आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः॥
आस्फालितं यत्प्रमदा-कराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥"

अतएव,

'तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम्।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम्॥'

मिथिला पर कवि की दूसरी कविता अतीत की स्मृति के रूप में ही 'मिथिला में शरत्' है। इसमें वह 'पतझड़ की उदास कोयल' नहीं है, बल्कि यह 'स्वप्न-लोक की छवि' प्रतीत होती है, क्योंकि यहाँ कवि छायावादी प्रवृत्ति का अनु-

गामी हो गया है और लोक-जीवन से हटकर एक तटस्थ दर्शक की भाँति प्रकृति की शोभा पर ही दृष्टि गड़ाता है। कवि-श्रेष्ठ कालिदास ने जिस प्रकार विशाला-पुरी को 'दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्' के रूप में देखा था, वैसे ही यहाँ कवि कहता है,

'छलकी कण-कण में दिव्य सुधा,
बन रही स्वर्ग मिथिला-वसुधा;
तन की साड़ी द्युति सघन श्याम
तरु, लता, धान, दूर्वा ललाम,
दाएँ कोशल ले अर्घ्य खड़ा,
आरती बंग ले वाम—वाम।'

उसे घन-खेतों के बीच परी का गान सुनाई पड़ता है। शारदी चन्द्रिका के शान्त वातावरण में, कर्म कोलाहल की आँखों से दूर रहने के कारण कवि की प्रतिभा-परी को भावुकतामयी उड़ान भरने का अच्छा-खासा अवसर मिल जाता है। खँड़हर से एक परी निकलती दिखाई पड़ती है, उसका उन्मादक चित्र कवि ने अङ्कित किया है। प्रसिद्ध शृङ्गारी कवि मैथिल-कोकिल विद्यापति श्री 'दिनकर' की स्मृति से कभी दूर नहीं होते। भारत के अन्य प्रख्यात कवियों पर कवि की दृष्टि रुकती नहीं दिखाई पड़ती, पर शृंगारिक कवि विद्यापति जैसे इनके एक मात्र आराध्य हैं। अपने पड़ोस के होने के कारण कवि का उनके प्रति विशेष मोह दिखायी पड़ता है। इस कविता में विद्यापति की वाणी अधिक सुनाई पड़ती है।

'शारद सन्ध्या यह उगा सोम,
बन गया सरित में एक व्योम;
शेखर-उर में अब बिँधे बाण
सुन्दरियाँ यह कर रहीं स्नान।
डुबकी रमणियाँ लगाती है,
लट ऊपर ही लहराती हैं,
जल-मग्न कमल को खोज खोज
मधुपावलियाँ मँडराती हैं।
परियाँ अब जल से चलीं निकल
तन पर लिपटे भींगे अञ्चल;
चू रही चिकुर से वारि-धार,
मुख-शशि-भय रोता अन्धकार।

विद्यापति ! सिक्त वसन तन में
मन्मथ जागे न मुनी-मन में ?'

अब विद्यापति की नायिका के स्नान की शोभा भी देखिए, जिसे 'दिनकर' ने अपनी कविता में उठाकर रख लिया है,

"कामिनि करए सनाने,
हेरितहि हृदय हनए पञ्चबाने।
चिकुर गरए जल-धारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा।
× ×
तितल बसन तन लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू।'

अन्यत्र भी,

अलकहिं तीतल तैं अति सोभा
अलि-कुल कमल बेढ़ल मधुलोभा।"

कवि-शेखर विद्यापति की ही बातों को कवि ने दुहरा दिया है। अन्तर इतना अवश्य है कि रस-सिद्ध विद्यापति ने कोहकाफ की परियों को जल-क्रीड़ा करते नहीं देखा था और न दिखाया ही, उनकी कविता शृङ्गार के आलम्बन नायिका को लेकर उतरी है, अतः उनकी पंक्तियों में स्वाभाविकता का आनन्द है। यहीं श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीचि-विलास' की 'वारि-बेलि-सी फैल अमूल' पंक्ति ज्यों की त्यों उतार कर रख ली गई दिखाई पड़ जाती है,

'यह वारि-बेलि फैली अमूल
खिल गए अनेकों कंज-फूल।'

शरत्-श्री का वैभव-वर्णन भी काफी आकर्षक रूप में सज्जित किया गया है। फिर कवि शरद् के हृदय की व्यथा को दूर करने के लिए उसकी वसन्त-श्री से तुलना करने लगता है,

"ओ' शरत्, अभी भी क्या ग़म है,
तू ही वसन्त से क्या कम है ?
तू बिछी दूर तक दूब हरी,
हरियाली ओढ़े लता खड़ी;

कासों के हिलते श्वेत फूल,
फूली छतरी ताने बबूल;
अब भी लजवन्ती भीनी है,
मञ्जरी बेर रस-भीनी है।

कोयल न, कीर तो बोले हैं,
कुररी, मैना रस घोले हैं,
कवियों की उपमा की आँखें
खंजन फड़काती हैं पाँखें।"

यह शरत् की वसन्त से तुलना करने की भावना अंग्रेजी के प्रसिद्ध रोमैण्टिक कवि कीट्स से ली गई हैं। कीट्स की 'ओड टु ऑटम्' की कुछ पंक्तियाँ देखिए,

"Where are the songs of spring ? Ay, where are they?
Think not of them, thou hast thy music too,—
While barred clouds bloom the soft-dying day,
And touch the stubble-plains with rosy hue;
Then in a wailful choir the small gnats mourn
Among the river sallows, borne aloft
Or sinking as the light wind lives or dies;
And full grown lambs loud bleat from hilly bourn;
Hedge-crikets sing; and now with treble soft
The red-breast whistles from a garden-croft;
And gathering swallows twitter in the skies."

इस प्रकार श्री 'दिनकर' ने चारों ओर से अपने अनुकूल उपकरणों का चयन किया है और उसे बड़ी ही मार्मिकता के साथ प्रस्तुत भी किया है। अतीत के प्रति इनके हृदय में पर्याप्त मोह है और उसके संहार को देखकर इनके मन में एक प्रकार की विराग की भावना भी घर कर गई है—रेणुका के रचना-काल में, इसीलिए कवि का उल्लास भरा स्वर कम ही सुनने में आता है, किन्तु इसके विपरीत विषाद और वेदना का स्वर विशेष रूप से मुखरित हुआ है। 'दिनकर' जी के कण्ठ द्वारा जो इतिहास अपनी सम्पूर्ण वेदनाओं के साथ बोलता है, वह बिहार-प्रान्त तक ही प्रायः सीमित है। अन्तिम मौर्य-सम्राटों के समय बौद्ध-धर्म अपनी चरमोन्नति पर पहुँच चुका था, उसका विकास-क्षेत्र दिगन्त-

व्यापी हो गया था, और उस धर्म-वृक्ष की मूल-भूमि थी पाटलिपुत्र की नगरी। 'बिहार' नाम भी, बौद्ध-काल की ही देन है, स्थानगत संस्कारवश 'दिनकर' का कवि भी बौद्धों के समान ही क्षणिकतावादी है और इस संग्रह की अधिकांश रचनाओं में मायावाद या क्षणवाद का ही समर्थन हुआ है।

'कस्मै देवाय' इस संग्रह की एक प्रभविष्णु रचना है। अतीत भारत ही कवि को प्रेरणा प्रदान करता है। वह जब अपने समय के ख्यात उदीयमान कवियों की ओर दृष्टि डालता है, तब उसे निराशा ही होती है, क्योंकि उनका जीवन स्वर्गिक-स्वप्न बन गया था। वे काल्पनिक स्वर्ग का निर्माण करने और उसी में सन्तोष की साँस लेने में अपनी प्रतिभा की सार्थकता समझ रहे थे, मानव के यथार्थ भूमिष्ठ जीवन के नवनिर्माण में योग देने की बात तो दूर, उसकी ओर देखना तक उन्हें असह्य था। किन्तु श्री 'दिनकर' का कवि लोक-जीवन की उपेक्षा सहन करने को प्रस्तुत नहीं था, वह तो उसे पूर्ववत् सम्पन्न, सन्तुष्ट, शान्त और भरा-पुरा देखने को आकुल हो रहा था। अतः उसका भावुक मन रोके रुका नहीं और छायावादी कविताओं की अयथार्थता की घोषणा उच्च स्वर में करके उसने वर्तमान की ओर पाठकों की आँखें फेर दीं—

"रच फूलों के गीत मनोहर
चित्रित कर लहरों के कम्पन,
कविते! तेरी विभव-पुरी में
स्वर्गिक स्वप्न बना कवि-जीवन।

छाया, सत्य चित्र बन उतरी,
मिला शून्य को रूप सनातन,
कवि-मानस का स्वप्न भूमि पर
बन आया सुरतरु-मधु-कानन।

भावुक मन था रोक न पाया,
सज आए पलकों में सावन;
नालन्दा, वैशाली के ढूहों पर
बरसे पुतली के घन।"

करुणा साहस एवं उत्साह की जनयित्री है, करुणा से ही वास्तविक कविता का समुद्भव होता है। करुणा-विगलित होने पर राम की आदर्श-स्थापना की सम्भावना होती है, करुणा के अङ्क में लालित होने पर व्याध भी वाल्मीकि हो जाता है, करुणा मनुष्य को गौतम-बुद्ध बना देती है और सच तो यह है कि

मानवता करुणा की ही लाड़ली पुत्री है। मनीषी भवभूति का यह कथन अक्षरशः सत्य है,

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्,
आवर्तबुद्बुदतरङ्ग मयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥"

श्री 'दिनकर' का कवि जो क्रांति का आवाहक बना, वह भी करुणा की प्रेरणा से ही। पहले-पहल कवि-जगत् में आँखें खोलने पर कवि की खोज देखिए,

"मैं निज प्रियदर्शन अतीत का
खोज रहा सब ओर नमूना,
सच है या मेरे दृग का भ्रम,
लगता विश्व मुझे यह सूना।"

कवि को कहीं भी प्राचीन काल का आदर्श-सुखी जीवन दृष्टि नहीं आता, सन्तुष्ट मानव, प्रेमपूर्वक परस्पर हिल-मिलकर मनुष्यता के मृदुल सूत्र में आबद्ध होकर मानो रहना ही नहीं जानते, सर्वत्र 'वाणिज्य-न्याय' का बोल बाला है, स्वार्थान्ध मनुष्य हिंस्र पशु हो गया है; शस्त्र-निर्माण की होड़ लग गई है, एक-दूसरे के विनाश के लिए। जिसे लोग आज सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं, वह सभ्यता नहीं जंगलीपन है; मानवता नहीं, दानवता है।

"दलित हुए दुर्बल सबलों से
मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्रजन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित शोषण।"

ऐसे काल में जब कि मानवता ही संकटापन्न हो, सच्चे कवि का कर्म सुनहले स्वर्गीय स्वप्न-लोक का निर्माण नहीं है। वास्तविकता की उपेक्षा कवि और लेखक का सामाजिक अपराध है। कवि का कर्म है मानव मात्र को सुखी बनाने-वाली सात्विक भावनाओं को जगाना तथा मानव मात्र में सौहार्द एवं भ्रातृत्व की प्रतिष्ठा करना, इसके लिए आवश्यक है कर्म-सौन्दर्य से सबको परिचित कराना। श्री 'दिनकर' ने रेणुका की कतिपय रचनाओं में इसी आदर्श का निर्वाह किया है, इसमें कृत्रिमता नहीं है, यह श्री 'दिनकर' के कवि का स्वाभाविक स्वरूप है। इसीलिए वह पुकार उठता है,

"विद्युत की इस चकाचौंध में
देख, दीप की लौ रोती है,
अरी, हृदय को थाम, महल के
लिए झोंपड़ी बलि होती है!

धन-पिशाच के कृषक-मेध में
नाच रही पशुता मतवाली,
आगन्तुक पीते जाते हैं
दीनों के शोणित की प्याली।"

यह अद्यतन कृषक-मेध का दृश्य देखकर कवि का हृदय करुणा-विगलित हो उठता है, आँखों के आँसू रोके नहीं रुकते, किन्तु क्षणभर पश्चात् ही वह कर्म-सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठता है, उसका हृदय मानवता के आवेश से उद्दीप्त हो उठता है। फिर तो वह क्रान्ति-कुमारी का मुक्त-कण्ठ आह्वान करता दिखाई पड़ता है,

"उठ वीरों की भाव रङ्गिणी
दलितों के दिल की चिनगारी;
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग-जाग री क्रान्ति-कुमारी!

\+ \+

फूट-फूट तू कवि-कण्ठों से
बन निज व्यापक युग की वाणी।"

आज के वैषम्य को मिटाकर जिस भविष्य के निर्माण का वह आकांक्षी है, उसकी प्रतिष्ठा वह प्रियदर्शन अतीत की आदर्श-भूमि पर करना चाहता है, जहाँ जीवन आडम्बर-शून्य, सहज और आत्म-तुष्ट होगा। अर्थात् वह वर्तमान को उस वैदिककालीन मानव-समाज का रूप देना चाहता है, जब लोग तमसा आदि सरिताओं के तट पर, तपावनों में तृण की कुटी बनाकर परस्पर प्रेम-बद्ध होकर थोड़े में ही सन्तुष्ट रहा करते थे, कन्द-मूल-फल खाकर ही आत्म-तत्त्व के चिन्तन में रत रहा करते थे। उस वैदिक-युग को लाकर मानवता के विशुद्ध बन्धन में सबका हिलमिलकर रहना तभी सहज सम्भाव्य हो सकेगा, जब धर्म-भिन्नता का सर्वथा लोप हो जायगा। भारत महादेश अनेक धर्मों को समेटकर सब को एक करले, सभी वैदिक धर्म में दीक्षित हो जायँ, क्योंकि धर्म-भिन्नता ही उस कलह और संघर्ष का मूलकारण है, जिसके वशीभूत होकर मानव दानव

हो जाता है। भारत के उस वैदिककालीन मानवता के पुनीत आदर्श की श्रीरवि-ठाकुर ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है—

"हेथा एक दिन विरामविहीन
महा ओंङ्कारध्वनि,
हृदयतन्त्रे एकेर मन्त्रे
उठेछिल रनरनि।
तपस्या बले एकेर अनले
बहुरे आहुति दिया
विभेद भूलिल, जागाये तूलिल
एकटि विराट हिया।
सेइ साधनार से आराधनार
यज्ञशालाय खोला आजि द्वार,
हेथाय सबारे हवे मिलिबारे
आनत शिरे,—
एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे।"

वह आदर्श सदा ही हमारे यहाँ जीवित रहा है, यहाँ भिन्नता का सदा से उन्मूलन होता रहा है, आदर्श था एकमात्र मानवता का,

"हेथाय आर्य, हेथा अनार्य
हेथाय द्राविड़, चीन—
शक हूण-दल पाठान मोगल
एक देहे होलो लीन।"

श्री 'दिनकर' का कवि भी वही आदर्श स्थापन चाहता है :

"धर्म भिन्नता हो न, सभी जन
शैल-तटी में हिल-मिल जाएँ,
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में
भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गाएँ—"

क्या गाएँ? उन्हीं वैदिक मन्त्रों को, जिनमें उस प्रजापति या ब्रह्म की आराधना की गई है, जो विश्व-सृष्टि के पूर्व से ही वर्तमान था, जिसने सबको उत्पन्न किया, जो अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूमि को धारण करता है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२१ वें सूक्त की प्रथमा ऋचा है और शुक्ल यजुर्वेद के तेईसवें अध्याय की प्रथमा ऋचा तथा तेरहवें अध्याय की चौथी ऋचा भी यही है।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

एक ओर कवि वेद की ऋचाओं के गान की सामूहिक अभिलाषा व्यक्त करता है, तो दूसरी ओर निरीश्वरवादी अवैदिक-धर्म-प्रणेता बोधिसत्वकी पुकार भी करता है। जहाँ नास्तिक धर्म के अवलम्बन में ही मानवता का त्राण दृष्टि आता है, वहाँ मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है, अतः मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता की पूजा के लोभ को ही दूर हटा देना चाहिए, फिर यह कहना,

"आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं ॥"

निरर्थक ही प्रतीत होता है। कर्मोपासनाहीन बुद्धत्व की स्वीकृति के कारण ही रेणुका के कवि का स्वरूप मुख्यतः क्षणिकवादी हो गया है, यद्यपि उसका देश-भक्त हृदय उसे कर्म की ओर खींचता है और वह सोचता भी है,

"सुन्दरता आनन्दमूर्ति है, प्रेम नदी सुन्दर मतवाली ;
कर्म-कुसुम के विना किन्तु, क्या भर सकती जीवन की डाली ?"

किन्तु पूर्ण रूप से वह निराशा की कुहेलिका को हटा नहीं पाता। 'कला तीर्थ' नाम्नी रचना में वह आत्म-चिन्तन की ओर उन्मुख हुआ है और सत्य तथा सौंदर्य दोनों के समन्वय से कला-तीर्थ का निर्माण करना चाहता है। कवि की यह भावना नितान्त श्लाघ्य है और इसी भावना से प्रेरित होकर उसने जो रचनाएँ की हैं, वे वस्तुतः प्रशंसनीय हो उठी हैं, किन्तु रेणुका में ऐसी रचनाएँ कम ही हैं। आगे चलकर कवि ने अपने इस आदर्श को विकसित एवं पल्लवित किया है।

## कविता की पुकार

रेणुका की सर्वोत्तम रचना 'कविता की पुकार' है, और मेरे विचार में आधुनिक किसी भी कवि की वर्तमान पर कोई रचना इससे उत्तम नहीं हो सकी है। श्री 'दिनकर' का कवि मुख्यतः राष्ट्रीय है, यद्यपि वातावरण से प्रभावित होने के कारण आरम्भ में वैसा स्थैर्य नहीं आ सका था, किन्तु आगे चलकर कवि ने अपना स्थान और कार्य निश्चित कर लिया और उसकी पलायनोन्मुखी भावना धीरे-धीरे तिरोहित हो गई। यहाँ कवि कहता है कि न तो कल्पना-लोक में

बिहार करने से शान्ति उपलब्ध हो सकती है और न नालन्दा और वैशाली के ढूहों में बैठकर आँसू बहाने से ही समस्या का समाधान मिल सकता है, आज तो हमें सामन्ती वैभव की भूल-भुलैया में अपने को न रखकर जन-जीवन में प्रवेश करना है, जहाँ प्रकृति के असीम वैभव में पली ग्राम-बाला ही कविता का आलम्बन बनेगी--

> "आज न उडु के नील कुञ्ज में स्वप्न-खोजने जाऊँगी,
> आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी।
> अधरों में मुस्कान, न लाली बन कपोल में छाऊँगी,
> कवि ! किस्मत पर भी न तुम्हारी आँसू आज बहाऊँगी।
> नालन्दा, वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार,
> धूसर भुवन-स्वर्ग ग्रामों में कर पाई न विहार।
>
> आज यह राज-वाटिका छोड़
> चलो कवि ! वन-फूलों की ओर।"

इस कविता में कवि ने सच्चा ग्राम चित्र खींच दिया है, जो अत्यन्त आकर्षक है। कवि ने गाँव के प्रति बौद्धिक सहानुभूति नहीं दिखलाई, उसने तो अपना हृदय ही गाँव को समर्पित कर दिया। गाँव का अर्थ है भारत, जो एक महा-ग्राम है, उसे ही अपना हृदय सौंप दिया है। यही कारण है कि प्रगतिवाद की सीमा-रेखा बनाकर उसी के भीतर सिमटे रहने की पुकार लगानेवाले आज के प्रगतिवादी एक भी कवि ने ऐसी रचना प्रस्तुत नहीं की। जहाँ कविता कहती है,

> "विद्युत छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण-कुटी-प्रवेश,
> तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ वेश।
> स्वर्णाञ्चला अहा ! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
> रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।
> घर-घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी बारी,
> चौपालों में कृषक बैठ गाते--'कहँ अटके बरवारी ?'
>
> \+ \+ \+
>
> टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशु-गण,
> परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन--
> 'भैया ! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
> चारों कोने खेम-कुसल माँझे ठाँ मोर बियोग।"

वहाँ ऐसा लगता है, मानों हम मध्यकालीन संस्कृत कवियों के वन्य आश्रमों में आत्म-विस्मृत होकर विचरण कर रहे हों और जब वह कहता है,

"रोकूँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।"

तब हम अपने को वर्तमान भारत के गाँवों में पाते हैं, जहाँ हरी-हरी दूब लहरा रही है, फसलें खेतों में खड़ी झूम रही हैं, मकई की भीनी-भीनी सुगन्ध घ्राण-तर्पण कर रही है, प्रकृति का अपार वैभव चारों ओर फैला हुआ है, किन्तु ग्रामीणों के घरों में ले जाकर कवि पाठक को आठ-आठ आँसू रुलाए बिना नहीं रहता। 'सन्ध्या-श्याम-परी' के उतरने पर आज के ग्रामों की प्रकृति-शोभा का यह चित्रण देखकर कवि-शिरोमणि कालिदास का सन्ध्या-वर्णन स्मृति पर उतर ही आया। यों तो सन्ध्या का थोड़ा बहुत वर्णन अन्यत्र भी कई स्थानों पर उनके काव्यों मे मिलता है, किन्तु सन्ध्या के अपार वैभव का अत्यन्त रमणीय बिम्बग्राही चित्रण उन्होंने जैसा कुमार-सम्भव मे किया है, वैसा भरा-पुरा चित्र अन्यत्र नहीं मिलता। शिवजी पार्वती उमा के साथ गन्धमादन पर्वत पर विराजमान हैं, सन्ध्या धीरे-धीरे उतरती है और उस समय का प्रकृति-वैभव उमा को दिखाते हुए वे कहते हैं,

"पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः॥
सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम्॥
स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकी विटपभङ्गवासितम्।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम्॥
पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम्॥
उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव॥
एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम्।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः॥
पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः॥

आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेक-सरसैश्च वृक्षकैः ।
आश्रमाः प्रविशदग्न्यधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥"

यह पर्वतस्थ-वन्य-प्रान्त का दृश्य है, डूबते हुए सूर्य की किरणों से निर्झरों में बनते हुए इन्द्रधनुष मिटने लगे हैं, चकवा और चकवी एक-दूसरे को छोड़कर रोते हुए सरोवर के दोनों किनारों पर जा बैठे। हाथियों द्वारा सल्लकी की तोड़ी गई डालियों से सुगन्ध चारों ओर फैल गई और हाथी सल्लका-वन को त्यागकर षट्पद-बद्ध कमलों से शोभित सरोवर की ओर चल पड़े। सूर्य ने सरोवर के जल पर सुनहला पुल बना दिया। पल्वल के पंकिल जल में लोट-पोटकर दिन की धूप निकल जाने पर वे वन्य वराह-यूथप उससे निकलने लगे, जिनके बड़े-बड़े श्वेत दाँत ऐसे लग रहे हैं, मानो उनके द्वारा चबाए हुए कमल के नाल-खण्ड उनके मुँह में ही अटके रह गए हों। अपने पंखों पर स्वर्णिम परिवेष धारण करनेवाला वृक्ष-शिखर पर आसीन मोर मानो आतप को धीरे-धीरे पी रहा हो। आकाश के पूर्व-भाग में अन्धकार आने लगा है और पश्चिम-भाग में अभी प्रकाश शेष है, इस समय आकाश उस सरोवर-सा लग रहा है, जिसमें एक ओर तो जल शेष है, किन्तु दूसरी ओर जल के सूख जाने से पङ्क ही शेष रह गया हो। उधर ऋषि-आश्रमों की ओर तनिक दृष्टि फेरो, पौदों के थालों में पानी डाला गया है, पर्णशालाओं के आँगन में मृग आने लगे हैं, दिन भर घास चरने के पश्चात् गाएँ भी आ पहुँचीं और हवन-कुण्डों में अग्नि प्रज्वलित हो उठी है।

श्रीदिनकर की ये पंक्तियाँ—

"रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।"

और,

"घर-घर से उठ रहा धुआँ जलते चूल्हे बारी-बारी।"

ऋषि-आश्रमों के उन प्राचीन दृश्यों को सम्मुख ला ही देती हैं। इस कविता में ग्राम्य प्रकृति साङ्गोपाङ्ग उतर आई है। कालिदास की प्रकृति अपने युग के उल्लासहर्ष को लेकर उतरी है और दिनकर की प्रकृति अपने युग की समस्त वेदना के साथ सामने आती है। कृषक की समस्या भारत की प्रमुख समस्या है, किन्तु आज के कतिपय लेखकों ने जो मज़दूरों की समस्या को प्रमुखता दे दी है, इसका कारण यह है कि उन्होंने भारत को देखा नहीं, जो गाँवों में बसता है, उन्होंने भारत में उस पश्चिम को उतारने का प्रयास किया है, जो कल-कारख़ानों में ही बसता है। सच्चा भारत वहाँ है, जहाँ पसीने से भीगा हुआ किसान थोड़ी देर के लिए हल चलाना बन्द करके अपनी पत्नी द्वारा लाई गई

सूखी रोटी और ठंढे जल द्वारा अपनी भूख मिटाकर सन्तोष की साँस लेता है। अथक परिश्रम करने पर भी न तन ढकने को पूरा कपड़ा ही मिल पाता है और न भूख शान्त करने को पर्याप्त अन्न। घर में दूध-घी होता है पर बच्चों को एक बूँद भी मयस्सर नहीं हो पाता, क्योंकि महाजन का ब्याज समेत क़र्ज़ जो चुकाना है, और क़र्ज़ भी ऐसा कि द्रौपदी के चीर की तरह जिसका पुश्त-दर-पुश्त अन्त ही नहीं हो पाता! बेबस ज़िन्दगी का ऐसा कारुणिक चित्र, जो हृदय से अकृत्रिम रूप में उतर पड़ा, हो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता,

'अर्द्ध-नग्न दम्पति के घर में मै झोंका बन आऊँगी,
लज्जित हों न अतिथि-सम्मुख वे दीपक तुरत बुझाऊगी।
ऋण-शोधनके लिए दूध, घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहकाएगी,
मै फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पाएगी।
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।

फटेगा भू का हृदय कठोर,
चलो कवि! वन-फूलों की ओर।"

श्री 'दिनकर' के कवि का यही वास्तविक क्षेत्र है, यही उसका राष्ट्रीय रूप है, जिसे समय के झोंके में पड़कर आजकल वह भूल बैठा है। इस कविता मे प्रकृति भी शुद्ध आलम्बन के रूप में आई है, कवि के मनोभाव में रँगकर नहीं। इस संग्रह मे अन्यत्र भी प्रकृति लाई गई है, पर वह प्रायः कवि के हृदय की व्यथा में भींगी होने के कारण अपना सहज रूप लिए हुए नहीं आ सकी है। हाँ, 'निर्झरणी' अवश्य अपने सहज मनोहारी रूप को लेकर उतरी है, जिसकी बातें सुन हृदय खिल उठता है।

## रेणुका का नूतन संस्करण

रेणुका का एक नूतन सस्करण अभी-अभी दो महीने पूर्व देखने में आया। इस पर लिखने की आवश्यकता इसलिए हुई कि पहले जो 'रेणुका' प्रकाशित हुई थी, उससे इसमे काफी परिवर्तन ला दिया गया है। इसमें पहली 'रेणुका' की तीन कविताएँ, विरह-योगिनी, सायं-चिन्ता और शब्द-बेध, निकाल दी गई हैं और ग्यारह नवीन कविताएँ ऊपर से ला दी गई हैं।

निकाली गई कविताओं में 'विरह-योगिनी' तत्कालीन रहस्यवादी धारा से प्रभावित होकर लिखी गई थी,

"मैं योगिनि निज राम पिया की।
मेरे अश्रु जगत के सावन,
　उर कम्पन तारों के स्पन्दन;
विरह निरावधि, मैं मतवारी,
　चिर तरुणी, बावली व्यथित मन
　　युग से कूक रही वन-वन
　　कोयल बन मेरी हूक हिया की।"

इन पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उधार ली हुई चीज है, 'दिनकर' की अपनी चीज नहीं। संभवतः इसी कारण इस 'निरावधि (?) विरह' को निकाल बाहर किया गया। दूसरी निष्कासित कविता है, सायं-चिन्ता। इसमें भी कवि ने जग छोड़कर 'कोरस' गाने की राय दी थी, अतः इसे भी दूर हटा दिया गया। 'शब्द-बेध' शीर्षक वाली रचना रेणुका से हटाकर हुङ्कार में रख दी गई है, अतः इसके नूतन संस्करण में उसे रखने की आवश्यकता नहीं रही।

नवीन कविताएँ जो रखी गई हैं, उनमें पाँच तो विदेशी कवियों की रचनाओं की अनुवाद या छायानुवाद हैं, शेष छः भिन्न-भिन्न समयों में रची गई हैं। 'बागी' सन् १६२६ ई० की रचना है, जो क्रान्तिकारी यतीन्द्रनाथ दास के जेल में ही शहीद हो जाने पर लिखी गई है, इसे हम शोक-गीत ही कहेंगे। 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' ई० स० ४० की कृति है, अर्थात् यह 'रेणुका'-काल के बाद की चीज है, 'रेणुका' का प्रकाशन सन् १६३५ ई० में ही हो चुका था। इसमें कवि ने 'भारत मा के शार्दूल' के रूप में खुद अपने से या देश के युवकों से क्लीव-धर्म त्यागकर भारत के मुक्ति-संग्राम में दुविधा त्यागकर उतरने के लिए ललकारा है–

"दुर्लभ सुयोग, यह वह्निवाह
　धोने आया तेरा कलङ्क,
विधि का यह नियत विधान,
　तुझे लड़कर लेना है मुक्ति मोल।"

कवि जिस लड़ाई का आयोजन कर रहा है, वह सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। युद्ध करना धर्म है या अधर्म, इसके उत्तर में वह आप्त-वचनों की प्रामाणिकता पेश करता है और कहता है कि युद्ध अधर्म नहीं है,

"तेरे पूर्वज कह गए,
'युद्ध चिर-अनघ और शाश्वत पवित्र।"

घर के झगड़े से भी वह अनवगत नहीं है, फिर भी वह बन्धन तोड़ फेंकने को आकुल है, उसे अपने भुज बल पर विश्वास है और औरों में भी वह आत्म-विश्वास भरता है। 'पटना ज़ेल की दीवार से' कविता सन् '४५ ई० में उस समय लिखी गई थी जब बिहार के उत्तरी भाग में महामारी भयंकर रूप से फैली हुई थी, लोग मर रहे थे और जनता ने श्री राजेन्द्र बाबू को जेल से मुक्त करने की माँग की थी, आन्दोलन छेड़ दिया था, पर उसकी पुकार अनसुनी कर दी गई थी'। इसमें आरम्भ में श्री राजेन्द्र बाबू की लोक-प्रियता का उल्लेख किया गया है, उनकी प्रशस्ति का गान किया गया है, फिर प्रकारान्तर से देश-मुक्ति की सम्भावना व्यक्त की गई है। कवि ने इस ओर भी संकेत करके विदेशी शासन को सावधान कर दिया है कि जब जनता की आवाज को दबाने का प्रयत्न किया जाता है, तब क्रान्ति की ज्वालामुखी फूटने में देर नहीं लगती, विवश, पीड़ित और मर्दित प्रजा एक दिन विद्रोह कर बैठती है,

"मिली न जिनको राह, वेग वे विद्युत बन आते हैं,
बहे नहीं जो अश्रु, वही अङ्गारे बन जाते हैं।"

'गीत वासिनी' में कवि अपनी कविता का स्वर्ग-कल्पना से शृंगार करने की बात कहता है और कविता भी पूरी शृंगारिक ही हो जाती है। 'संजीवन घन दो' रचना में विश्व-प्रेम के आदर्श को हृदय में प्रतिष्ठित करने की प्रार्थना की गई है, जो प्रेम और अहिंसा के द्वारा आ सकेगी। अपने क्रान्तिकारी स्वरूप को एक ओर रखकर यहाँ कवि 'पीड़ित जग के लिए ज्ञान के शीतल अंजन' की माँग पेश करता दिखाई पड़ता है। इसकी रचना सन् १९५१ ई० में हुई है।

## हुङ्कार

'हुङ्कार' नामक कविता-संग्रह का प्रकाशन वि० संवत् १९९५ अर्थात् ई० १९३८ में हुआ। इस संग्रह में कवि की केवल राष्ट्रीय रचनाएँ ही सङ्कलित की गई हैं। 'वन फूलों की ओर, शब्द-वेध और हिमालय ये तीन रचनाएँ 'रेणुका' से आनीत हैं। जैसा कि होना स्वाभाविक था, इस संग्रह की कविताओं में कवि की विचार-धारा का पन्थ निश्चित हो गया है, उसके अन्तस् का द्वैविध्य समाप्त हो गया है, अब वह कर्म-संन्यास की बात नहीं करता है, जैसा कि रेणुका में प्रायः कहा करता था। हुङ्कार का कवि क्रान्ति का अभिलाषी है, क्रान्ति किन परिस्थियों में जन्म लेती है, उसका प्रभाव कैसा होता है, उसका स्वरूप कितना रोमहर्षक होता है, इन सब बातों पर विचार करके, क्रान्ति का पूर्ण चित्र कवि ने दिया है और अपने देश भारत में शीघ्र क्रान्ति की फलवती आशा भी प्रकट की है। संग्रह की पहली रचना 'असमय आह्वान' में कवि ने अपनी मनोदशा को बड़े सुंदर ढंग से उतारा है और यह बताया है कि जो कवि देश के प्रति सच्चा होता है, वह देश की पराधीनता, ग़रीबी, अन्याय-अत्याचार, उत्पीड़न की एक क्षण के लिए भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह आग ऐसी नहीं है कि जब चाहा बुझा दी और जब चाहा जला ली। ऐसा तो वे करते हैं, जिनका मानस-देश प्रेम से बहिर्मुख होता है, जो उजले दिन को भी अँधेरी रात बनाकर निश्चिन्त सोते हैं, किन्तु 'दिनकर' का कवि ऐसा नहीं है। वह सच्चा है, देश के प्रति, जाति के प्रति और मानव के प्रति। इसीलिए वह कहता है,

"तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का
मैं चारण, मैं वैताली।"

देश-प्रेम की वह्नि-शिखा जब अन्तस्तल में धधक उठती है, तब उसे किञ्चित्काल के लिए भी शान्त करके अन्य भावनाओं की उपासना कठिन हो जाती है। यों तो मानव-हृदय में अन्य भावनाएँ भी स्थायी रूप से निवसित होती हैं, किन्तु जो भाव विशेष बलवान् होता है, वही सबको पीछे ढकेलकर आगे आ जाया करता है, अन्यों के समक्ष उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कोई अन्य भाव अनुकूल परिस्थिति से उद्दीप्त होकर आगे आया कि दूसरे ही क्षण वह हृदय के बलवत्तर भाव द्वारा दबा दिया जाता है और वही भाव परिस्थिति को भी अपने अनुकूल बना लिया करता है। लोग कहा करते हैं कि दिन भर तो हम कर्म-जगत् के बीच अपने को भुलाए रहते हैं, किन्तु जब शान्त रजनी का वातावरण औरों से पृथक् करके हमें अकेला छोड़ देता है, तब वहाँ हम अपने व्यक्ति के साथ हो जाते हैं, अपने व्यक्तिगत जीवन के बीच अपने को पाते हैं और फिर हमारी अपनी भावनाएँ हमें आकुल कर देती हैं, जिनसे बाध्य होकर हमें प्रेम-गीत लिखने पड़ते हैं। किन्तु जिनके हृदय में देश की लौ लगी हुई है, उनका 'स्व' सदा के लिए 'पर' हो जाता है, ऐकान्तिकता में तो वही भाव और भी आकुल किए डालता है। 'दिनकर' का कवि अपनी बेबसी को यों प्रकट करता है—

"दग्ध करती दिन भर सब अङ्ग
तुम्हारे मरु की जलती धूल,
निशा में ही खिल पाते, देवि,
कल्पना के उन्मादक फूल!

अन्य अनुचर सोए निश्चिन्त
शिथिल परियों को करते प्यार;
रात में भी मुझ पर ही पड़ा
द्वार-प्रहरी का गुरुतर भार।

\+ \+ \+

ऊँघती इन कलियों को सौंप
कल्पना के मोहक सामान,
पुनः चलना होगा क्या हाय,
तुम्हारा सुन निष्ठुर आह्वान।"

अभी कवि की दशा उस सोए हुए व्यक्ति की-सी है, जो खूब गहरी नींद में सो रहा हो और यदि प्रातःकाल निकट देख कोई उसे जगावे तब भी वह उठना न चाहे, स्वप्न-लोक का आनन्द उसे अपनी ओर खींचे हुए हो, इसीलिए मीठी नींद छोड़ना उसे प्रिय न लगे। किन्तु यही द्वैविध्यमयी तन्द्रा की स्थिति सदा बनी नहीं रहती, आँखें खोलते हुए ही उसे अपने कर्तव्य की याद आ जाती है और वह स्वप्निल-लोक को एक ओर फेंक ललकार उठता है--

"फेंकता हूँ, लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे, बीन के तार;
उठा चाँदी का उज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव हुङ्कार।
नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल;
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।"

देश के ऐतिहासिक कर्म-वीरों की स्मृति उसे आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करती है। उसका युद्धाह्वान सुनकर साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों में उसी प्रकार खलबली मच जाती है जिस प्रकार किसी तापस की उग्र तपस्या से इन्द्र-लोक में खलबली मच जाया करती थी। देव लोक की इस हलचल से कवि पूर्णतया अवगत है और वह यह भी जानता है कि तपोभङ्ग की योजना प्रस्तुत की जायगी, किन्तु अभी तो वह अपनी तपश्चर्या में अटल है। वह कहता भी है कि विपुल वैभवाधिकारी देवराज तथा प्रचण्डप्रतापी दिनपति को भयभीत होने का कोई कारण तो नहीं है, मैं न तो देव-लोक पर अधिकार करना चाहता हूँ और न विवस्वान् से होड़ करना मेरा ध्येय है, मैं तो धरती पर रहनेवाला साधारण प्राणी हूँ। हाँ, यदि मेरी तपोवह्नि की लपटों का प्रभाव वहाँ तक पहुँच जाय तो इसके लिए मैं अपने कर्म से विरत तो हो नहीं सकता,

"वंशी पर मैं फूँकता हृदय की करुण हूक,
जाने क्यों छिद्रों से उठती है लपट-लूक!
धरती से तेरा स्वर्ग बसा है बहुत दूर,
जल जाय अगर तो क्या इसमें मेरा क़सूर?"

कवि अपने देश को स्वतन्त्र देखना चाहता है, स्वातन्त्र्य उसका आराध्य देव है। किन्तु वह स्वतन्त्रता वरेण्य नहीं, जो लोगों को अकर्मण्य बनाकर सुख-

निद्रा में सुला दे, इसीलिए वह क्रान्ति तथा क्रान्तिकारियों का उपासक हो गया है,

"स्वातन्त्र्य, पूजता मैं न तुझे
इसलिए कि तू सुख-शान्ति-रूप,
हाँ, उसे पूजता, जो चलता
तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।"

देश की दयनीय एवं करुणोत्पादक दशा देखकर कवि का हृदय हाहाकार कर उठता है, चतुर्दिक् मचनेवाले हाहाकार की उपेक्षा वह नहीं कर पाता, उससे आँखें नहीं हटा सकता, इतनी बड़ी हृदय-हीनता उससे नहीं हो सकती। जब वह देखता है और कवियों की ओर जो जन-जीवन की उपेक्षा करके प्रेमालाप में मस्त हैं, तो आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहता,

"यह वैषम्य नियति का मुझपर
किस्मत बड़ी धन्य उन कवि की,
जिनके हित, कविते! बनती तुम
झाँकी नग्न अनावृत छवि की।

दुखी निशा से दूर जिन्हें
लेकर आकाश-कुसुम के वन में,
खेल रही तुम अलस जलद सी
किसी दिव्य नन्दन-कानन में॥"

किन्तु वह तो ऐसा कर ही नहीं सकता। एक क्रौंच की कराह और चीत्कार को सुनकर व्याध का हृदय करुणार्द्र हो उठा था, मौनवाणी मुखरित हो उठी थी, फिर जहाँ 'लाखों क्रौञ्च कराह रहे हैं', फिर उनकी उपेक्षा भला एक सहृदय कैसे कर सकता है, यदि उसके कान और आँखें सही-साबूत हैं तो। कभी-कभी औरों की देखा-देखी वह भी आकाश-कुसुमों के वन में विहार करने को लालायित हो पड़ता है, उसका मन भी बच्चे-सा मचलकर उसे धरती से दूर ले जाना चाहता है, पर उसका वैसा प्रयास यथार्थ के एक ही थपेड़े से धराशायी हो जाता है, वह विवश कह उठता है—

"रह-रह पंख-हीन खग-सा मैं,
गिर पड़ता भू की हलचल में,
झटिका एक बहा ले जाती
स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।"

साम्राज्यवादी जीव अपने शोषण को बरक़रार रखने के लिए शान्ति की दुहाई ज़ोरों से दिया करते हैं। उस शान्ति की दुहाई नहीं जिसमें स्थायित्व होता है, सब लोग अपने जीवन की आवश्यकताओं के अभाव का अनुभव नहीं करते और सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हैं, वे उस शान्ति के प्रेमी हैं कि ग़रीबों का शोषण करते जायँ और कोई ज़बान तक न हिलाए। इसीलिए तो कवि कहता है—

"टाँक रही हो सुई चर्म पर
शांत रहें हम तनिक न बोलें;
यही शान्ति गर्दन कटती हो,
पर हम अपनी जीभ न खोलें?
बोलें कुछ मत क्षुधित, रोटियाँ
श्वान छीन खाएँ यदि कर से;
यही शान्ति, जब वे आएँ, हम
निकल जायँ चुपके निज घर से?

इस वैषम्य को कोई मनुष्य भला कैसे सह सकता है कि एक ओर मनुष्यों को तो सूखी रोटियाँ भी नहीं मिलतीं, बच्चों को दूध नहीं मिल पाता और वे भूख से दम तोड़ देते हैं और दूसरी ओर कुत्ते दूध से नहलाए जाते हैं। इसी से विक्षुब्ध होकर कवि स्वर्ग लूटने की बात कहता है, क्रान्ति का आह्वान करता है और असहाय कुत्तों की मौत मरने को विवश करनेवाले क्लैब्य-भाव को दूर हटाने की पुकार लगाता है। उसे आश्वासन मिलता है, उसकी आशा बँधती है, यह देखकर कि अभी कल ही जनता का इस प्रकार का प्रयास कई देशों में सफल हो चुका है। क्रान्ति का प्रमुख कारण होता है, जनता का असंतोष। भारत में इस असन्तोष के अनेक कारण कवि को दिखाई पड़े थे, कृषक जो भारत के मेरु-दण्ड हैं, वे श्रम करते हैं, उनका अथक श्रम अनवरत चला करता है। ठीक है, श्रम करना ही तो जीवन है, किन्तु अपने श्रम का पूरा फल उन्हें नहीं मिलता, अधूरा भी नहीं मिल पाता; देखिए न—

"मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन? कहाँ सूखी रोटी भी
मिलती दोनों शाम नहीं है।"

शिशुओं को इतना भी दूध नहीं मिल पाता कि वे जीवित रह सकें। शिशुओं के स्मारक स्वरूप कब्रों पर कवि की दृष्टि विशेष रूप से टिकती है और तब उनकी

जड़ हड्डियों की पुकार भी कवि को सुनाई पड़ जाती है—

"कब्र-कब्र में अबुध बालकों
की भूखी हड्डी रोती है।"

तीसरी एक खास बात ऐसी है जो कवि के मन को प्रलय के लिए उकसा ही देती है, वह है नारियों की अर्द्ध-नग्नता; कहीं वह कृषक-वधू की अर्ध-नग्नता को अतिथि के सम्मुख छिपाना चाहता है, कहीं महाजन का सूद चुकाने के लिए नारी के वस्त्र बिकते देख नहीं पाता। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को भी इन्हीं सब कारणों से विशेष व्यथा पहुँची थी, और उन्होंने अपनी व्यथा के कारणों का उल्लेख कई नाटकों में किया है। 'नील देवी' में अंग्रेजों के 'बड़े दिन' का प्रसङ्ग उपस्थित करते हुए एक स्थान पर वे कहते हैं,

"मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अंगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है।"

मानव-समाज की यही परस्पर विरोधी भिन्नता असन्तोष का कारण होती है। बा० मैथिलीशरण गुप्त को भी यह बात खली थी, उन्होंने स्वदेश के अतीत के समक्ष उससे नितान्त भिन्न पड़े हुए वर्तमान को रखकर दुःखानुभव किया था। वे इतना ही कहकर शान्त हो गये थे, "हम क्या रहे, क्या हो गए"। क्या होना चाहिए, कैसे होना चाहिए, होना ही चाहिए, इधर का उपयुक्त निर्देश वे न करके मौन रह गए। श्री 'निराला' ने अवश्य ललकारा था—

"जागो फिर एक बार!
पशु नहीं, वीर तुम
समर-शूर, क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर!—समर सरताज!

\+ \+

सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?

मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष-माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है;—
किन्तु क्या
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार बार—
जागो फिर एक बार !"

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने अवश्य ही देश पर मिटने वाला हृदय पाया है, वे देश के लिये सर्वस्व समर्पण करने को आरम्भ से ही प्रस्तुत रहे हैं। 'एक फूल की चाह' में उनका हृदय ही उतर पड़ा है। किन्तु वे एक सच्चे सिपाही मात्र थे, सेनानायक नहीं, जिसकी वाणी सुनने को सब उत्कर्ण रहते हैं और जिसके आदेश का अनुकरण लोग मन्त्रमुग्धवत् करते हैं। सच्चे कवि को हृदय के साथ ही भाषा भी मिलती है और श्री दिनकर का कवि ऐसा ही है। उसमें पूर्ववर्ती सभी कवियों की राष्ट्रीय भावनाओं की परिपक्वता एवं प्रौढ़ता प्राप्त हुई है। 'हुँकार' के कवि में राष्ट्रीयता की चरम परिणति है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

सन् १६२० के आस-पास ही हमारे देश में क्रान्तिवादियों का एक दल संगठित हो चुका था और वह रक्त-क्रान्ति के द्वारा देश को पराधीनता के पाश से मुक्त करने का अभिलाषी था, उसके हाथों जहाँ-तहाँ कई स्थानों पर भयानक काण्ड भी हुए थे। वे विदेशी शासन के अमानवीय अत्याचारों की यातना-ज्वाला में उतर कर अपनी शुद्धता की परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो चुके थे। उत्पीड़ित भारतीय जनता के श्रद्धा-भाजन वे बन चुके थे, उनकी वीरता की कहानियाँ घर-घर में गूँजने लगी थीं। एक वीर जाति के उन युवकों का जिनके हृदय से भारतीय संस्कार मिटे नहीं थे उधर आकर्षण सर्वथा स्वाभाविक था। 'दिनकर' उन्हीं में से एक थे, उन क्रान्तिकारियों के चरित्र और आदर्श की जो छाप

इन पर पड़ी, वह इनके जीवन में प्रामुख्य प्राप्त करके रही है। यही कारण है कि किसानों के बीच जन्म लेकर पलनेवाले कवि ने सहज ही क्रान्ति का बाना धारण कर लिया, छायावाद-काल की रंगीनी से दूर हटकर उसने अपना एक अलग ही साधना-क्षेत्र अपनाया। युग की माँग भी यही थी। यही कारण है कि जिन्होंने प्रदर्शन मात्र के लिए देश-प्रेम पर चन्द चुनी हुई पंक्तियाँ अंकित कीं, उनकी वे पंक्तियाँ सहज क्रान्तिकारी अथच देश-प्रेमी 'दिनकर' की पंक्तियों के सम्मुख धूमिल पड़ जाती हैं। इस कवि ने देखा कि देश में सर्वत्र ही क्रान्ति के सारे उपकरण प्रस्तुत हैं, अतः इसे ऐसा लगा कि अब वह किसी भी दिशा से देश मे उतर सकती है। कवि ने उसे नाम दिया है 'विपथगा', कारण यह कि वह सहज, सर्व-जन-विदित प्रशस्त पथ से न आकर अनजाने पथ से आती है और उसके कर्म भी क्रूर होते हैं; वह कहती है—

"मुझ विपथगामिनि को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी,
आँखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मनाऊँगी,
किसका टूटेगा शृंग, न जाने किसका महल गिराऊँगी,
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।"

"विपथगा' रानी का काल्पनिक रूप-विधान अत्यन्त प्रभावशाली और आकर्षक है उसके। इस मनोहारी रूप को देखकर विश्व के दलित देशों के युवक अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को सदा ही तत्पर रहे हैं, तत्पर रहेंगे, देश-कालानुसार उसकी वेश-भूषा भले ही भिन्न हो जाय, किन्तु उसका सौन्दर्य तो सर्वत्र ही एक-सा रहता है। वह अपने रूप, शृंगार-प्रसाधन, प्रभाव, उद्भव-हेतु, यौवन-वसन्त, आमंत्रण-हेतु, उग्र कर्म, शरणागत-रक्षण, अत्याचार-प्रशमन आदि का तारतमिक स्वरूप बड़े ही आत्मोपयुक्त ओजस्वी शब्दों में व्यक्त करता है। उसके यौवनागमन के उद्दीपक आलम्बन को ओर देखिए,

"पौरुष की बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है,
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है,
धन के विकास का बोझ दुखी, दुर्बल, दरिद्र जब ढोता है,
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।"

उसका आमन्त्रण कब होता है, इसे देखिए,

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,

माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों में रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब व्याज चुकाए जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहङ्कार देता मुझको तब आमन्त्रण ।"

यह तो हुआ अधिनायकवादी, स्वार्थी एवं जन-जीवनोपेक्षी शासक-वर्ग का स्वरूप, क्रान्ति का कर्म क्या है, उसके आगमन का उद्देश्य क्या होता है?

"असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन, कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ,
थर-थर करते कानून, न्याय, इङ्गित पर जिन्हें नचाती हूँ
भयभीत पातकी धर्मों से मैं अपने पग धुलवाती हूँ ।"

ईश्वर का आसन जनता ग्रहण कर लेती है, स्वार्थपूर्ण नियम-क़ानून समाप्त हो जाते हैं, धर्म की टट्टी की आड़ से शिकार खेलना बन्द हो जाता है । मानवता के विकास का पथ प्रशस्त होता है, इसे कवि गम्य ही रहने देता है । भावी के लिए कौन-सा आदर्श कवि को प्रिय है, इस मन्तव्य को कवि ने 'रेणुका' वाली 'कस्मैदेवाय' रचना में ही व्यक्त किया है, जहाँ वह वैदिककालीन आडम्बर-शून्य रहन-सहन के प्रति अपना मोह प्रकट करता है, अन्यत्र सर्वत्र ही वह अनुपस्थित ही रह गया है । बात यह है कि श्री 'दिनकर' का कवि क्रान्ति का आवाहक है, नव-युग का स्रष्टा नहीं, उसका काम रुद्र का है, विष्णु का नहीं, इसीलिए संहार का पूरा-पूरा विधान उसमें मिलेगा, किन्तु सर्जन का नहीं, और इसीलिए वह सर्व-संहारी प्रलय को बड़ी ही उत्सुक आँखों से देखता है, किन्तु उसकी लोक-मंगलाकांक्षिणी भावना के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता ।

कवि की दूसरी क्रान्तिपरक रचना है, 'दिगम्बरि' । कवि को क्रान्ति के आगमन के पूर्व-लक्षण जो इतस्ततः दृग्गोचर हुए हैं, उन्हीं का इसमें क्रमिक उल्लेख है । कवि क्रान्ति के आगमन की प्रतीक्षा दिल पर हाथ रख बड़ी उत्सुकता के साथ कर रहा है । यहाँ कवि की कल्पना ने उर्दू के पुराने कवियों के समान ही मुबालग़ा और इस्तआरा के दामन का सहारा लिया है, जिसके कारण काव्य का मर्म-पथ छूट गया है और चीज़ नुमाइशी अधिक हो गई है । एक उदाहरण पर्याप्त होगा, कवि 'दिगम्बरि' ( क्रान्ति ) से कह रहा है—

"जरा तू बोल, तो सारी धरा हम फूँक देंगे,
पड़ा जो पन्थ में गिरि कर उसे दो-टूक देंगे ।

कहीं कुछ पूछने बूढ़ा विधाता आज आया,
कहेंगे—हाँ, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।
जिला फिर पाप को टूटी धरा यदि जोड़ देंगे,
बनेगा जिस तरह उस सृष्टि को हम छोड़ देंगे !"

'विपथगा' में कवि ने उन सभी परिस्थितियों का बड़ी ही मार्मिकता के साथ ब्यौरेवार उल्लेख किया है, जो किसी भी मानव के हृदय में करुणा का उद्रेक करने में समर्थ होती है, यही करुणा अविलम्ब क्रोध में रूपान्तरित हो जाती है और व्यक्ति उत्पीड़क के प्रतीकार के निमित्त सन्नद्ध हो जाता है। और केवल परिणति का ही मुहुर्मुहुः उल्लेख काव्यत्व को दबोच बैठता है, इसी से पुराने आचार्यों ने इस प्रकार के ज़बानी जमा-ख़र्च को 'वाच्यत्व दोष' में गिनाया था। परिणति यदि गम्य हो तो उसका प्रभाव बड़ा ही गम्भीर होता है, और विश्व के क्रान्तिकारी कवियों और लेखकों ने क्रान्ति के कारणों का ही प्रचार किया है, किसीने भी धरती को दो-टूक करने या सृष्टि को नष्ट कर डालने का अस्वाभाविक उत्साह नहीं दिखाया है। किसी देश में जब स्वाधीनता का बिगुल बज उठता है, तब वह कितना प्रभावशाली होता है, इसका बड़ा ही सजीव वर्णन अंग्रेजी के कवि शैली ने ( पी० बी० शेली ) कई काव्यों में किया है। वह भी एक स्वप्न-द्रष्टा ही कवि था किन्तु उसके वर्णन में सहजता है, स्वाभाविकता है। 'स्वतन्त्रता' ( Liberty ) पर वह लिखता है—

"The fiery mountains answer each other;
Their thunderings are echoed from zone to zone;
The tempestuous oceans awake one another,
And the ice-rocks are shaken round winter's throne.
When the clarion of the Typhoon is blown.
From a single cloud the lightening flashes
Whilst a thousand isles are illumined around.
Earthquake is trampling one city to ashes
And hundred are shuddering and tottering; the sound
is bellowing under-ground.
But keener thy gaze than the lightning's glare,
And swifter thy step than the earthquake's tramp,
Thou deafenest the rage of the ocean; thy stare

Makes blind the volcanoes; the sun's bright lamp
To thine is a fen-fire damp.
From billow and mountain and exhalation
The sun-light is darted through vapour and blast;
From spirit to spirit, from nation to nation,
From city to hamlet thou dawning is cast,
And tyrants and slaves are like shadows of night
In the van of morning light."

शेली ने स्वतन्त्रता ( Liberty ) की शक्ति, उसकी प्रभविष्णुता और उसका लोक-मंगलकारी स्वरूप दिखलाया है, जिसके राज्य में अत्याचारी और पीड़ित ये दोनों स्वरूप मिट जाते हैं और नूतन मानवता का उदय होता है। उस महान् कवि ने अपनी बहुत-सी रचनाओं में सच्ची क्रान्ति का स्वरूप चित्रित किया है, किन्तु वह क्रान्तिकारी के ध्वंसक रूप को पूजा इसलिए करता है कि उसमें नूतन सर्जनात्मक या संरक्षक शक्ति भी निहित होती है। इस्लाम की क्रान्ति ( Revolt of Islam ) में उसी संरक्षिणी शक्ति की प्रशंसा की गई है, पश्चिमी प्रभंजन ( ode to west wind ) में भी उसके क्रान्तिकारी कर्म में नवसर्जन देखा गया है, इसीलिए उसके प्रति उत्कट सम्मान प्रदर्शित किया गया है, उसका खुले हृदय से स्वागत किया गया है—

"Wild spirit, which are moving every where;
Distroyer and preserver; here, oh, here !"

फिर अपने नव-युगानेता सन्देश को मानव-जगत् में फैला देने की प्रार्थना करता हुआ, नव-युगागम की शुभाशंसा भी व्यक्त किए बिना नहीं रहता,

"And, by the in cantation of this verse
Scatter, as from an unextinguished hearth
Ashes and sparks, my word among mankind !
The trumpet of prophecy ! O, wind,
If winter comes, can spring be far behind ?"

जो काव्य-तत्त्व के भीतर निहित नव-सर्जना की आभा 'शैली' में है, वह ऐसी मनोहारिणी लगती है, जैसे नव-किसलय के भीतर व्याप्त अरुणिमा। श्री 'दिनकर' ने ध्वंस का तो बड़ा ही चटकीला काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है, पर वहाँ रक्षण का प्रायः अभाव ही है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि श्री 'दिनकर' के सम्मुख भारत के क्रान्तिकारी युवकों के कर्म; जो ध्वंसकारी थे, आ सके थे,

नव-सर्जन उन्हें अपनी आँखों देखने को नहीं मिल सका था। जहाँ उन्होंने तनिक चिन्तन से काम लिया है, वहाँ उन्हें भावी नव-सर्जन, नवालोक भी दिखाई पड़ा है और उन्होंने नव-युगागम की आशा भी व्यक्त की है। उदाहरण के लिए 'अनल-किरीट' नाम्नी रचना ली जा सकती है:—

"लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !
कालकूट पहले पी लेना, सुधा-बीज बोने वाले !
\+ + + +
सँभले जग, खिलवाड़ नहीं अच्छा इस चढ़ते पानी से,
याद हिमालय को, भिड़ना कितना है कठिन जवानी से।
ओ मदहोश ! बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का;
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।
मंजिल दूर नहीं अपने दुख का बोझा ढोनेवाले !"

अपनी कतिपय कविताओं में कवि ने अतीत की भूमिका पर वर्त्तमान को उतारने का उसी प्रकार का प्रयत्न किया है, जैसा कि अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि स्काँट ( Sir Walter Scott ) ने किया है और जहाँ वह गावों की ओर मुड़ा है वहाँ ग्राम्य-प्रकृति और मानव-कर्म-लोक को उसी खूबी से एक में समन्वित कर दिया है, जैसा कि ग्रामीण कवि बर्न्स ( Robert Burns ) ने किया था। 'वसन्त के नाम पर' कविता में कवि ने दिखलाया है कि वसन्त को देखकर उसे देवकवि की वह प्रसिद्ध कविता प्रकृति के प्रांगण से तितली-सी उड़ती दिखाई पड़ी, जिसमें वसन्त की पूरी सेना का उल्लेख रूपक-बद्ध हो गया है:—

"डार-द्रुम-पलना, बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन-छवि भारी दै,
\+ +
मदन-महीप जू को बालक बसन्त ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।"

किन्तु अतीत के स्मृति-चिन्ह जब उसे काल्पनिक मनोराज्य में भटकने दें तब तो वह 'देव'-सी शृंगारी रचना प्रस्तुत करे। उसकी आँखें तो सहसा उधर मुड़ जाती हैं:—

"देखा, शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है;

"डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया-तराना,
और तुझे सूझा इस दम ही उत्सव हाय ! मनाना।"

अंग्रेज़ों के बर्बर अत्याचारों की ओर भी कवि ने बड़ा हृदय-बेधी संकेत किया है। उस समय देश-भक्ति का पुरस्कार मिलता था देश-निकाला अथवा फाँसी के रूप में। कवि कहता है कि उस सौन्दर्य का मूल्य ही क्या जिसका कोई सहृदय दर्शक ही न हो। भारत के प्रपीड़ित जन तो तेरी ओर देखने से रहे—

"गुलचीं निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,
कुछ सागर के पार और कुछ रावी-सतलज-जल में;
हम मिटते जा रहे न ज्यों अपना कोई भगवान !
यह अलका छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में ?"

ये सारे अत्याचार हमारी आँखों के सामने ही हो रहे हैं। यही तो शोक है, हमारा हृदय तड़प उठता है। इन सारी नृशंसताओं का समूल उन्मूलन करने की बलवती उद्दाम कामना अन्तस्तल को व्यथित एवं मथित किए डाल रही है, पर हम करें क्या ? हमारे हाथ-पैर जो बँधे हुए हैं उनके कारण हमें लहू का घूँट पीकर चुप रह जाना पड़ता है। हमारी दशा बद्ध-शक्ति उस परशुराम-सी हो रही है, जिन्होंने कभी हिमालय के गर्व का भी दमन एक बाण द्वारा ही कर डाला था। कवि की मजबूरी पर मजबूरी भी आँसू बहाती है—

"और कहें क्या ? धरा न धँसती,
हुङ्कारता न गगन सँघाती।
हाय ! बन्दिनी माँ के सम्मुख
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती !
तड़प-तड़प हम, कहो, करें क्या ?
'बहै न हाथ, दहै रिसि छाती',
अन्तर ही अन्तर घुलते हैं
'भा कुठार कुण्ठित रिपु-घाती'।"

फिर वह पाण्डवों से लेकर अकबर और शाहजहाँ के काल तक की दिल्ली के स्वकीया-रूप की याद करता है और आज के उसके परकीयात्व से उसकी तुलना करने बैठता है, पर कोई साम्य नहीं। महाकवि 'निराला' को भी एक बार आधुनिक दिल्ली को देखकर उसके पहचानने में भ्रम हुआ था। क्योंकि तब से अब में उन्होंने भी महदन्तर देखा था। न वह भारत के पौराणिक युग की दिल्ली थी, न सम्राट् पृथ्वीराज के समय की दिल्ली प्रतीत होती थी और न उसमें

मुग़लों के वैभव-काल का ही कोई आकर्षण शेष रह गया था। इसी से उन्होंने चकित हो पूछा था—

"क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्ति-क्षेत्र,
चिर कुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायु-मण्डल में
उज्ज्वल अधीर और चिर-नवीन?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत—सिंह-नाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का?"

'निराला' जी ने जहाँ प्राचीन गौरव पर अधिक मनस्ताप व्यक्त किया था, वहाँ श्री 'दिनकर' ने भारत के पीड़ित जन-जीवन को अधिक उभारकर युवकों के कर्म का निर्देश किया है। उन्हें वैभव-मद-मत्त दिल्ली 'कृषक-मेघ की रानी' के रूप में घृण्य दिखाई पड़ी है। इस कविता में उनकी 'खीझ' नामक भावना की उत्तम अभिव्यक्ति हुई है। शासक और शासित का वैषम्य दिखाकर देश-प्रेम की सुन्दर व्यञ्जना कवि ने प्रस्तुत की है। 'कल्पना की दिशा' में कवि ने अपने कवित्व के विकास-पथ का निर्देश किया है और यह बतलाया है कि उसमें भी कभी प्रणय-गीत गाने की लालसा जगी थी और रण-स्थली में उतरने के पूर्व तक उसकी स्मृति कुछ-कुछ बनी रही। किन्तु धीरे-धीरे प्रणय-चुम्बन-ध्वनि तिरोहित हो गई, वह कर्म-क्षेत्र में निस्पृह भाव से उतर पड़ा। वह चारों ओर 'अजा-धर्म का ग्लानिविहीन प्रवर्तन' देखकर क्षुब्ध हो उठा, गान्धीवाद से उसका मन समझौता नहीं कर पाता। वह कहता है कि मानव-धर्म और देव-धर्म दोनों भिन्न हैं, अतः उचित आश्रय में ही उनकी पृथक्-पृथक् शोभा है। वह अजा-धर्म के उपदेष्टा से कहता है—

"मैं मनुष्य हूँ दहन-धर्म है मेरा
मृत्ति साथ अग्नि-स्फुलिंग हैं मुझमें,
तुम कहते हो, 'शिखा बुझा दो', लेकिन
आग बुझी तो पौरुष शेष रहेगा?

गरल, द्रोह-प्रतिशोधमयी ज्वालाएँ
भरी हुई हममें; पर, हम मानव हैं,

नरता, मानवता, पौरुष से बढ़कर
सुर में क्या गुण श्रेष्ठ जिन्हें हम सीखें ?

तृणाहार कर सिंह भले ही फूले,
परमोज्वल देवत्व-प्राप्ति के मद में;
पर हिंस्रों के बीच भोगना होगा
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।"

वह तो ऐसे महामानव का अन्वेषक है, जो वीर कर्म-योगी एवं क्षात्र-धर्म की साकार मूर्ति हो, जो गीता का उपदेश करनेवाले कृष्ण के मनोनुकूल हो, जैसा कि अर्जुन को उन्होंने बनाने का यत्न किया था और बना भी लिया था,

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोद्यसे महीम्।'

की शिक्षा देकर अथवा जो आदर्श भर्तृहरि ने प्रतिष्ठित करने को कहा था,

'सेव्या नितम्बा किमु भूधराणाम्,
उतस्मरस्मेर विलासिनीनाम्।'

और

'एको वासः पत्तने वा वने वा
एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा।'

श्री 'दिनकर' का कवि भी गीता कहनेवाले कृष्ण की 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोद्यसे महीम्' वाली बात को दुहराते हुए कहता है,

सम्मुख हैं दो पन्थ मृत्तिमय नर के
ज्वलित-प्राण योगी हो या कि विजेता;
वृथा जन्म, बैठी न अङ्क में जिसके
विबुध-भूमि या वीर-वधू वसुधा ही।

वह 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' लोकोत्तरचेता दाशरथि राम-से वीर को देश के उद्धारार्थ भारत-भू पर अवतीर्ण देखना चाहता है, जैसे पुरुष की खोज करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से कहा था,

'कोन्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्,
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥

भारत देश का काया-कल्प करने के लिए अजा-धर्म प्रतिष्ठापक गान्धी से व्यक्ति को वह क्षम नहीं समझता, वह तो शस्त्र-व्रती वीर का उपासक है। उसका आदर्श पुरुष ऐसा होगा—

शैल-शिखर-सा प्रांशु, गभीर जलधि-सा,
दिनमणि-सा समदृष्टि, विनीत विजय-सा,
झंझा-सा बलवान, काल-सा क्रोधी,
धीर अचल-सा, प्रगतिशील निर्झर-सा।

फिर ऐसा पुरुष चाहे जिस देश, जिस जाति या जिस कुल में भी क्यों न हो, ऐसे विक्रमशाली पुरुष के ही सम्मुख वह अपना सिर झुकाने को प्रस्तुत है, अन्य को नहीं, उसी के द्वारा युग-प्रवर्तन अथवा युग-परिवर्तन की आशा वह रखता है। 'हुङ्कार' के कवि के ये सुचिन्तित विचार हैं, वह अन्य श्रेष्ठ सात्विक गुणों के साथ सात्विक क्रोध से समन्वित पुरुष का उपासक हो गया है। वह दुर्दान्त दानवों के उच्छेद के निमित्त वाल्मीकि के राम की अवतारणा का अभिलाषुक है। इसके पूर्व जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, रेणुका-काल में उसकी जन-क्लेशोद्बुद्धकरुणा विरक्ति की ओर झुकती दिखाई देती थी और वह सब को कर्महीन निर्वाण का पथ दिखानेवाले गौतम को बुलाने लगा था, उसकी शरण में ही उसे त्राण दृष्टि आता था:—

शस्त्र-भार से विकल खोजती रह-रह धरा अधीर तुम्हें
प्रभो! पुकार रही व्याकुल मानवता की जंजीर तुम्हें।

'बोधिसत्व' से

'आश्वासन' नाम की कविता में कवि युवकों को रोना छोड़कर कठिन कर्म-पथ पर चलने के लिए हृदय में साहस लाने की बात कहता है, उन्हें आश्वस्त करने के लिये प्रह्लाद, अम्बरीष, दुर्वासा, नीलकण्ठ आदि की पौराणिक कथाओं को भी ध्यान में लाने को कहकर अपनी बात को पुष्ट करता जाता है। जब कर्म-मार्ग के पथिक बन गए, फिर क्या दुःख और क्या सुख! वहाँ तो दुःख ही सुख हो जाता है, इसीलिये कठिन कर्म-व्रती को पथ पर अडिग रहने के निमित्त वह कहता है—

कलियों पर जो पले, कुलिश की उनके लिये कहानी है;
नीलकण्ठ को नदी, सिन्धु दोनों का मीठा पानी है।
जो अशेष जीवन देता है, उसे मरण संताप नहीं;
जलकर ज्वाला हुआ, उसे लगता ज्वाला का ताप नहीं।

जो स्वयं अग्नि-स्वरूप हो उठा है, उसे ताप का क्या कष्ट। कविवर 'बच्चन' ने पुराने समाज पर व्यंग करते हुए ऐसी ही बात कही थी,

"हाथ ले बुझती मशालें, जग चला मुझको जलाने,
जल उठीं छूकर मुझे वे, धन्य अन्तर्दाह मेरी !"

—मधुकलश

'फूलों के पूर्व जन्म' की बात कवि अपनी सुनहली कल्पना द्वारा उद्घाटित करता है। कल्पना भी बड़ी मनोमोहिनी और सटीक है। जैसे—

पी न सका कोई जिनके नव अधरों की मधुमय प्याली,
वे भौंरों से रूठ झूमतीं बनकर चम्पा की डाली।

इस कविता पर रवीन्द्र ठाकुर की लोकोत्तर कल्पना का प्रभाव परिलक्षित होता है। निद्रित शिशुके अधरों पर कभी-कभी आनेवाली मुस्कान के प्रति उनकी मधुर कल्पना देखिए,

"The smile flickers on baby's lips when he sleeps—does anybody know where it was born ? Yes, there is a rumour that a young pale beam of a crescent moon touched the edge of a vanishing autumn cloud, and there the smile was first born in the dream of a dew-washed morning--the smile that flickers on baby's lips when he sleeps."

स्व-राष्ट्र के रक्षणार्थ आत्म-बलिदान की भावना दिनकर की अपनी चीज़ है। यह भावना उनमें सर्वत्र प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर हो उठती है। इसीलिये इस कल्पना-विलासमें भी वह प्रमुख रूप में उतर पड़ी है—

"अपने बलिदानों से जग में जिनने ज्योति-जगाई है,
उन पगलों के शोणित की लाली गुलाब में छाई है।
अबुध वत्स जो मरे हाय, जिन पर हम अश्रु बहाते हैं,
वे हैं मौन मुकुल अलबेले खिलने को अकुलाते हैं।"

भाव-प्रकाशन की पद्धति भले ही अन्यत्र से गृहीत हो किन्तु श्री 'दिनकर' ने उसे आत्मानुरूपता प्रदान अवश्य की है, यही उनकी विशेषता है।

उनकी 'सिपाही' रचना पर श्री माखनलाल चतुर्वेदी की तद्विषयक कविता का स्पष्ट प्रभाव है—

"इतिहासों में अमर रहूँ, है ऐसी मृत्यु नहीं मेरी;
विश्व छोड़ जब चला भुलाते फिर किसको लगती देरी ?"

'तकदीर का बँटवारा' में अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित उस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य के प्रशमन की बात कही गई है, जिसने धीरे-धीरे मानवता का गला ही दबोच

लिया था। श्री 'दिनकर' जब अपनी कविता के लिये ऐसे विषयों की ओर आकृष्ट होते हैं, तब उन पर उर्दू कवि इक़बाल और 'अकबर' इलाहाबादी का प्रभाव विशेष उभर आता है। साम्प्रदायिक शान्ति की बात को प्रभावशाली बनाने के लिए ही यहाँ कवि ने उर्दू बह्रों का आश्रय लिया है, यह भी स्पष्ट है।

"खून ! खूँ की प्यास, तो आकर पियो
जालिमो ! अपने हृदय का खून ही;
मर चुकी तकदीर हिन्दुस्तान की
शेष इसमें एक बूँद लहू नहीं।"

अन्त में, तरुणावस्था के आवेश-प्रवाह में कवि दूर क्षितिज प्रान्त पर आती हुई उस क्रान्ति की स्वप्निल आभा देखता हुआ आश्वस्त हो लेता है कि अब इस सर्वनाश के बाद जो नव-सर्जन होगा उसमें सभी को समान सुख एवं शान्ति उपलब्ध हो सकेगी, इसीलिए वह उसके स्वागत में प्रसन्नमुख खड़ा होकर गाने भी लगता है, जैसे बच्चे दूर से आती हुई आँधी का उड़ता हुआ आकाशव्यापी धूमिल अञ्चल देखकर आह्लादित हो गाने-नाचने लगते हैं।

"शंख के तारुण्य गिरि चढ़ फूँकता-
आ प्रभंजन ! ध्वस्त हो वन की जरा;
अट्टहासी ! आ, विकट युगदेव ! आ
जोहती रणक्लान्त पन्थ वसुन्धरा।"

## 'हुङ्कार' का सन्देश

अपने हुङ्कार के द्वारा कवि ने शिक्षित समुदाय का ध्यान गरीब भारतीय गाँवों की ओर खींचा है। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से अभिशप्त मानवता के परित्राणार्थ कवि ने अपनी मनोवेदना-जन्य आकुलता व्यक्त की है। कवि का उद्देश्य लोक-मंगल ही है, हाँ, उसके साधन की बात को लेकर मतभेद हो सकता है। रूसी क्रान्ति अपने से दूर होने के कारण तत्कालीन युवकों को वरेण्य प्रतीत हुई थी और रक्त-क्रान्ति की बातें बढ़-चढ़कर करने में उन्हें विशेष रस मिलता था, क्योंकि वह कोरी बात ही बात थी। श्री 'दिनकर' को भी साम्य की वंशी सुनाई पड़ी थी—

"झोंपड़ी हँस चौंकती, वह आ रहा
साम्य की वंशी बजाता कौन है ?"

# सामधेनी

इस कविता-संग्रह की विषय-वस्तु वही हुङ्कारवाली है, अर्थात् अपना प्रकृत क्षेत्र राष्ट्रीयता ही जिन कविताओं से उतरी थी, उन्हीं को जोड़कर यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है। यों तो गौतमबुद्ध से कवि पहले भी प्रभावित था, पर देश की दुर्दशा से पूर्णतया प्रभावित होने पर उसने गौतम को दरकिनार कर रखा था और 'हिमालय' से आज्ञामयी प्रार्थना की थी–

"रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दो उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर !"

वह अहिंसा को दूर हटा चुका था, और सर्व-संहारिका क्रान्ति का आवाहक बन गया था, राह में खड़े होकर उसकी बाट भी जोही थी। अंग्रेजों से भारत-त्याग ( Quit India ) की बात कहने पर महात्मा गान्धी कारा-बद्ध कर दिए गए थे, जिसके परिणाम-स्वरूप समग्र देश-वासियों का रक्त खौल उठा था। सन् '४२ ई० की निहत्थे भारतीयों की उग्र क्रान्ति चारों ओर फैल चुकी थी, जिसका दमन विदेशियों एवं स्वदेशी विदेश-भक्तों ने बड़ी ही बर्बरता और नृशंसता से किया था। यह तो अभी कल की बात है और किसी को भूली भी न होगी, न ही भूलेगी। पूर्वाञ्चल में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की वीर-वाहिनी 'आज़ादहिन्द

फ़ौज' अपने विजयी चरण बढ़ा रही थी, नौ-सेना ने भी विद्रोह कर दिया था और भारत का लोक-जीवन भी क्षुब्ध हो उठा था। अपने चारों ओर उठती हाहाकार मचाती अग्नि-शिखाओं में घिरे विदेशी शासन ने शान्ति की चर्चा छेड़ दी, लोगों द्वारा शान्ति का घूम-घूमकर प्रचार कराया जाने लगा। विदेशी शोषक-शासन ने समझ लिया कि ये अपने अन्तिम दिन हैं।

उसी समय सन् १६४३ में श्री 'दिनकर' को भी अंग्रेज़ों ने अपना प्रचारक बनाया और इन्होंने देशवासियों से शान्ति की याचना की। उसके पश्चात् 'दिनकर' की क्रान्ति की क्षुधा शान्त हो गई और पहले का क्रान्तिकामी कवि सन्' ४२ की क्रान्ति पर एक पंक्ति भी नहीं लिख सका। शान्ति की जो कामना कवि ने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में आगे विस्तारपूर्वक तर्क की सीढ़ियों पर गुज़रते हुए व्यक्त की, उस चिन्ता-धारा का उद्गम सामधेनी में इतस्ततः सहज उपलभ्य है। इसमें कवि के उस प्रचारक-काल की ही कृतियाँ प्रायः आई हैं और भावों का अभिनिवेश भी तदनुकूल ही दृष्टिगत होता है। इसीलिए पहले का साम्याभिलाषी कवि यहाँ संघवाद ( Communism ) की निन्दा भी प्रकट रूप में करता है। हाँ, बीच-बीच में पहले की बद्धमूल भावना भी - रहरहकर झलक मारती है।

इसमें पहला गीत 'अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला' प्रार्थनापरक है, जिसमें कवि कहता है कि वह विराट् शिल्पी ही अपने स्पर्श से अचेतन पदार्थों को भी चेतनावान् बना दिया करता है, मिट्टी को फूल और शिला को सजीव प्रतिमा। उसी शिल्पी की बाट कवि भी जोह रहा है। उसी शिल्पी से रवि ठाकुर ने भी कहा था,

"At the immortal touch of thy hands my little heart loses its limits in joy and gives birth to utterance ineffable."

( गीताञ्जलि से )।

दूसरे गीत में अभिलषित देश-स्वातन्त्र्य कवि को निकट आता प्रतीत होता है, इसकी अभिव्यक्ति देश के धूमिल वातावरण से हो जाती है, जिसे देखकर वह कह उठता है, इस तर्क पर कि 'यत्र-यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निः'—

"धुओं में किसी वह्नि का आज निमन्त्रण लाता है कोई।
तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर आता है कोई।"

इस प्रकार आरम्भ में सात गीत दिए गए हैं, जिन्हें शुद्ध प्रगीत मुक्तक

( lyrical songs ) कहा जायगा; इनमें कवि के अन्तर्भाव हृदयोद्वेलन के क्षणों में बहिर्गत हो पड़े हैं, अतएव इनमें भावुकता ( sentimentality ) प्रधान हो गई है। भाव कवि के वे ही राष्ट्र-सम्बन्धी ही हैं। 'बटोही, धीरे-धीरे गा' वाले गीत में शुद्ध भाव-प्रवणता ही है। स्वप्न को सत्य में परिणत कर लेने की शक्ति मानव के भीतर निहित होती है। कल्पना ही यथार्थ बनाकर धरती पर उतार ली जाती हैं समर्थ पुरुषों द्वारा, इसी बात को कवि चाँद से यों कहता है—

> "स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
> रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
> रोकिये जैसे बने इन स्वप्नवालों को
> स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

'अन्तिम मनुष्य' कविता की प्रेरणा कवि को मैथ्यू प्रायर की 'ऐज़ ऐडम सॉ इट्ज मौर्न' नामक कविता से मिली है। इसमें कवि ने पहले काल्पनिक प्रलय की विभीषिका प्रस्तुत की है। फिर कहता है कि इतने बड़े दिगन्त-व्यापी विप्लव को देखकर भी मानव उस सर्वभक्षी प्रलय से अब भी डरा नहीं है और विश्वास का दीप सँजोये मुस्कुराता खड़ा है। वह दीप भी निर्वाणप्राय हो चला है, बुझने को है, किन्तु वह जानता है कि जो स्रष्टा है वही संहारक भी है अतः उसे मृत्यु का भी भय नहीं है। नोआवाली और बिहार के दंगे के समय 'हे मेरे स्वदेश' कविता लिखी गई थी, जिसमें कवि हिन्दू और मुसलमान दोनों को समझाता हुआ कहता है कि इस प्रकार के पारस्परिक संघर्ष से तो स्वदेश का ही सर्वनाश होता है, आने वाली आजादी और दूर होती जाती है, अतः सबको विवेक से काम लेना चाहिये—

> "जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
> भारत की आँखें जलती हैं,
> आने वाली आजादी की
> लो! दोनों पाँखें जलती हैं।"

अन्त में गान्धी जी का, जिन्होंने अकेले नोआखाली जाकर शान्ति-स्थापन का प्रयास किया था, स्तवन है—

> "दुनिया भी देखे अन्धकार की कैसी फौज उमड़ती है,
> औ एक अकेली किरण व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है।"

'अतीत के द्वार पर', 'दिल्ली और मास्को' तथा 'कलिङ्ग विजय' ये तीन कविताएँ इस संग्रह में ऐसी हैं, जिनमें कवि क्रान्ति का दामन छोड़ कर शान्ति

का आवाहन करता दिखाई पड़ता है। एकबार पहले उसने अपना चिन्तन-परिणाम इन शब्दों में प्रकट किया था:—

"तृणाहार कर सिंह भले ही फूले
परमोज्वल देवत्व-प्राप्ति के मद में;
पर हिंस्रों के बीच भोगना होगा
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।"

अतः स्वदेश के परित्राणार्थ भारत में ऐसे वीर की आवश्यकता है—

"वह मनुष्य जो रणारूढ़ होने पर
त्रस्तु धर्म का पृष्ठ नहीं खोलेगा,
द्विधा और व्यामोह घेर कर जिसको
मृषा तर्क से बाँध नहीं पाएँगे।
पोतेगा इतिहास नहीं पौरुष का
आँखों की कीचड़ से जो बलशाली
क्लीव धर्म का चित्र नहीं साजेगा
क्षमा दया के सुघर बेल-बूटों से।"

उस समय लोक का बाह्य-जीवन सुधारने की उद्दाम कामना थी, किन्तु उसकी वाणी का यथोचित प्रभाव, उसकी दृष्टि में, लोक-जीवन पर नहीं पड़ सका और उसके पूर्व भी वह 'अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन' देखकर ऊब गया था, उसी बद्धमूल अजा-धर्म को देखकर उसका धैर्य पुनः छूट गया—

"आखिर क्लीवों को देख धीरता गई छूट,
धरती पर मैंने छिड़क दिया विष कालकूट।"

और उसने निष्कर्ष निकाला—

"बन सेतु पड़ा रहना होगा छू युग्म देश,
कर सके इष्ट जिस पर चढ़ नव युग में प्रवेश।"

फिर वह तपस्कामी हो जाता है:—

'जलता है कोई द्रव्य तभी खिलता प्रकाश !'

और राम-चरित-मानस की उमा के स्वप्नागत विप्रवर की भाँति तपस्या की महत्ता का गान करने लगता है—

तप बल रचै प्रपंच बिधाता। तप बल बिस्नु सकल जग त्राता।

\+ \+ \+

तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तप अस जिय जानी ॥"

श्री दिनकर भी कहते हैं–

"जग के विकास-क्रम में जो जितना महीयान,
है उसका तप उतना चिरायु, उतना महान।"

अतः उपर्युक्त तीनों ही रचनाओं में क्षमा, दया आदि मानसिक गुणों के विकास पर ही अधिक बल दिया गया है और बहिर्जीवन की एक प्रकार से उपेक्षा कर दी गई है। 'अतीत के द्वार पर' और 'कलिङ्ग विजय' की रचना लेखक के अनुसार सन् '४१ की है और 'दिल्ली और मास्को' की रचना सन् '४५ की है। कवि के मानस-परिवर्तन में दो बातें विशेष प्रभावकारी हुई हैं, एक तो विदेशी शासकों की प्रचारात्मिका नौकरी और दूसरी गान्धीवादी विचार-धारा। अतः पहले तो वह अतीत से कहता है कि अपने अजिर में रहनेवाले वीरों से कहो–

"गुंजित जिनके विजय-नाद से
हवा आज भी बोल रही,
जिनके पदाघात से कम्पित
धरा अभी तक डोल रही।
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल में सोती है,
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी विधवा-सी रोती है।"

फिर मनुष्य को बुद्धिवाद से नाता तोड़कर हृदयवाद से नाता जोड़ने की बात कहता हुआ, बौद्ध अशोक की उपासना करने की बात कहता है–

"दो विषाद निर्लज्ज मनुज यह
ग्लानिमग्न होना सीखे
विजय-मुकुट रुधिराक्त पहनकर
हँसे नहीं, रोना सीखे।
+ +
भरो हृदय का शून्य सरोवर,
दो शीतल करुणा का जल।"

और अन्त में बुद्धवाद की प्रतिष्ठा की कामना व्यक्त की गई है, जो सारी समस्याओं का निदान हो जायगी!

'जय हो' खोलो द्वार, अमृत दो,
हे जग के पहले दानी!
यह कोलाहल शमित करेगी
किसी बुद्ध की ही बानी।

'कलिंग-विजय' में अशोक के निर्वेद की चर्चा कल्पना करती हैं और उनके हृदय में करुणा-दीप जलाकर अपना काम समाप्त करता है—

"पर डिगे तिल भर न वीर महीप,
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप।"

जब देश में सन् '४२ की महती क्रान्ति स्वतन्त्रता के मुक्ति-हेतु आ रही थी तब यह करुणा का सन्देश घूम-घूमकर सुना-सुनाकर लोगों को कर्म-पथ से विरत करना एक ईमानदार ( Sincere ) कवि के लिए उचित नहीं प्रतीत होता।

कवि-श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने, जो उत्तरकाल में विशेष रूप से चिन्तनोन्मुख हो गए, अपनी स्वर्ण-किरण और स्वर्ण-धूलि में अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन की समस्याओं पर अनेक कविताओं में अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'स्वर्णोदय' नाम्नी लम्बी कविता में बहिर्जीवन की विभिन्न समस्याओं पर विचार करके उनका समाधान भी ढूँढा है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

"संस्कृति रे परिहास, क्षुधा से यदि जन कवलित,
कला कल्पना, जो कुटुम्ब-तन नग्न, गृह-रहित!"

फिर आगे अन्तर्मन की ओर जाकर जब वहाँ की रंग-बिरंगे पुष्पों से सज्जित पुष्प-वाटिका का सौन्दर्य देखते हैं, तब इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन जीवन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरन्तन!
भर देगा भूखी धरती को अन्तर्जीवन प्लावन,
मनुष्यत्व को करो समर्पित खंडित मन, कवलित तन!"।

अन्त में विश्ववाद या सर्वैकतावाद का गान सुनाते चले जाते हैं। हाँ, यह रचना सन् '४७ की अर्थात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पीछे की है, फिर भी लोक-जीवन की समस्याएँ पूर्ववत् ही रही हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी सुलझन नहीं आ सकी थी।

श्री दिनकर ने रूसी संघवाद ( Communism ) का विरोध बराबर किया है, और रूस से अपनी आँखें हटाकर स्वदेश भारत की ओर देखने की

बात कही है। वे देखते हैं कि धर्म का दीपक बुझ गया है और मनुष्य ईश्वर का स्थान छीनकर अहंवादी बन गया है—

"बुझा धर्म का दीप, भुवन में
छाया तिमिर अहंकारी,
हमीं नहीं खोजते, खोजती
उसे आज दुनिया सारी।

वह प्रदीप जिसकी लौ रण में
पत्थर को पिघलाती हैं;
लाल कीच के कमल, विजय को
जो पद से ठुकराती है।"

यहाँ गीता के उपदेश गायब हैं, बौद्ध-धर्म ही एक मात्र धर्म संज्ञक मान लिया गया है। यह उपदेश भारतीयों को दिया गया है, जो स्वयं प्रपीड़ित थे और उन्हीं के हृदय में स्यात् विदेशियों के लिए करुणा जगाने की बात कही गई है। जो कवि उत्सुकतापूर्वक क्रान्ति की प्रतीक्षा कर रहा था वही अब क्रान्ति और युद्ध की बात सुनकर घबरा उठता है, जब कि विद्रोही नेता सुभाष की सेना देश को मुक्त करने के लिए शस्त्र-सज्ज आनेवाली थी!

———

# दिल्ली और मास्को

'दिल्ली और मास्को' नाम की कविता भारतीय कम्युनिस्टों के प्रति लिखी गई है, जिसमें उन्हें उपदेश-प्रदान करने की चेष्टा के साथ ही भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को भी सुरक्षित रखने को कहा गया है। अर्थात् उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम भारतीय पहले हैं और साम्यवादी तत्पश्चात्। अतः हमें पहले स्वदेश की परतन्त्रता की ज़ंजीर को तोड़ने का प्रयत्न करना है, उसके अनन्तर आर्थिक परतन्त्रता पर विचार करना होगा। क्योंकि राजनीतिक दासता का अस्तित्व रहते आर्थिक समस्या का समाधान भला होगा कैसे ?

"नगपति के पद में जब तक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर ?"

भारत में स्वदेश-मुक्ति के निमित्त जो जनान्दोलन सन् '४२ में देश-व्यापी आकार धारण कर चुका था और जिसका समर्थन ज़ोरदार शब्दों में पं० जवाहर-लाल नेहरू ने कारा मुक्त होने पर किया था उसे भारतीय कम्युनिस्टों ने असामयिक तथा अबौद्धिक क़रार दिया था, क्योंकि उन दिनों अधिनायकवादी हिटलर एवं उसके दल के विरुद्ध अमेरिका, इंग्लैंड आदि ने रूस के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया था। अतः ऐसी परिस्थिति से अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह छेड़ देना भारतीय कम्यूनिस्टों को अप्रीतिकर लगा था और बाद में कांग्रेसी एवं समाजवादी विचार-धारा के नेताओं ने इसी बात को लेकर इन कम्युनिस्टों को अभारतीय तथा देश-द्रोही की संज्ञा दी थी और आज भी अपने पक्ष के समर्थन तथा

कम्युनिस्टों के खण्डन में यह बात बराबर दुहराई जाती है। स्वतन्त्रता के आगमन के साथ-साथ श्री दिनकर ने भी उसी बात को तार्किक रूप में पद्य-बद्ध कर डाला है—

"यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश;
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास;
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उट्ठी मिलित दहाड़;
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।
सो क्या था विस्फोट अनर्गल ?
बाल-कुतूहल ? नर-प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्यनाद था ?"

यह है सन् '४२ के जन-विद्रोह का समर्थन। इसके पश्चात् अब देखिए कवि भारतीय कम्युनिस्टों की दिग्भ्रान्ति को व्यंग्यात्मक ढंग से, रूस की लोक-क्रान्ति और उसके आदर्श का अभिनन्दन करने के पश्चात् इस प्रकार प्रकट कर रहा है:

एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतन्त्रता
से हो रहा साम्य का कामी।
भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच
हो रही दीप्त स्वातन्त्र्य-समर की,
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को
बिसार सुधि अपने घर की।

इस प्रकार प्रत्येक बात पर रूस के आदर्श की दुहाई देनेवाले भारत के कम्युनिस्टों का खण्डन करके कवि अपनी आदर्श क्रान्ति का वह रूप प्रस्तुत करता है जो सर्वथा भारतीय है, अर्थात् वह जवाकुसुम के हार, रक्त-रोहित वसन, कबरी में लाल सितारे, हाथ में त्रिशूल कमण्डल लिये होगी। उसका स्नान सुरसरि में होगा और वही हिमाद्रि पर चढ़कर विश्व-शान्ति का शंख फूँकेगी। कवि कहता है कि सन् '४२ का प्रजा-विद्रोह और आजाद-हिन्द-फौज का अभियान उसी के हैं, 'जय हिन्द' की समवेतध्वनि उसी शिवा-भवानी का युद्ध-घोष है। अन्त में कवि कहता है कि जो दासता के दुर्ग को ध्वस्त करे वही साम्य-स्थापन का दावा कर सकता है, तदितर नहीं—

"दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र-धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभिमानी।"

'सरहद के पार से' नाम की रचना में देश-प्रेम अपनी परमोज्वलता के साथ छलक रहा है। स्वदेश-प्रेम की अनन्यता के लिये परमादरणीय श्री सुभाष-चन्द्र बोस ने जिस त्याग को अपनाया था, उसी की आदर्श-प्रतिष्ठा स्वदेश मुक्ति के निमित्त निर्मित उनकी 'आजाद हिन्द फौज' के जवानों के हृदयों में भी हुई थी। कौन ऐसा भारतीय होगा जिसका हृदय-सिन्धु सुभाष बाबू का नाम सुनते ही उछल न पड़ेगा। उस आदर्श के प्रति जन-जन के मन मे श्रद्धा एवं आदर की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण 'सरहद पार से' नाम की रचना अत्यन्त प्रभविष्णु हो गई है। मानो सुभाष बाबू स्वयं वे बातें देश-वासियों से कह रहे हों! इस आदर्श को देखकर भारत के प्राचीन वीरों की स्मृति ताजी हो जाती है, प्राचीन इतिहास सामने आकर बातें करने लगता है—

"माँ का आशीर्वाद, प्रिया का प्रेम लिये जाते हैं,
केवल है सन्देश एक जो तुम्हें दिये जाते हैं।
यह झण्डा जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,
छिन न जाय, इस भय से अब भी कसकर पकड़ रही है;
थामो इसे; शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा,
चाहे जो हो जाय, मगर यह झण्डा नहीं झुकेगा।"

इस रचना में करुणा और स्वदेश-प्रेम छलका पड़ रहा है, रस की धारा प्रवाहित हो रही है।

'साथी' रचना में कर्म-पथ पर चलने का उद्बोधन है, जिसके द्वारा स्वतन्त्रता सहज सुलभ हो जायगी। 'जवानियाँ' और 'जवानी का झंडा' रचनाओं की बन्दिश उर्दू की पद्धति पर है, जहाँ अवश्यकतानुसार वज़न पर दीर्घ को ह्रस्व भी पढ़ लिया जाता है। इनमें उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'इक़बाल' का प्रभाव झाँकता दिखाई पड़ता है। हिन्दी-काव्य का जो स्थायी प्रभाव पाठक के हृदय पर पड़ता है, उसकी गम्भीरता का इनमें अभाव है, कुछ हल्कापन आ गया है।

जय-प्रकाश बाबू की प्रशस्ति लिखकर कवि ने उनके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। कवि ने उनके जिन गुणों का उल्लेख काव्य-भाषा में किया है, वे हैं भी उसके सर्वथा योग्य और सन् '४२ की जन-क्रान्ति को भारतधरित्री

पर उतारने का बहुत कुछ श्रेय उन्हें है। उस समय उनका चरित्र एक क्रान्तिकारी का उज्वल आदर्श चरित्र था और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ऐसे ही कर्मठ वीरों के कर्मानुष्ठान के फल-स्वरूप स्वतन्त्रता भारत के निकट से निकटतर आने लगी और अन्त में वह भारत में आकर प्रतिष्ठित भी हो गई। जयप्रकाश बाबू कोरे कल्पना-विहारी नहीं थे और न ही हैं, उन्होंने अपने चिन्तन को कर्म-क्षेत्र में उतारा है। कवि का यह कथन सर्वथा सच है–

"मन से उतारकर हाथों में
निज स्वप्नों का संसार लिए।
कहते हैं उसको 'जयप्रकाश"
जो नहीं मरण से डरता है;
ज्वाला को बुझते देख, कुण्ड में
स्वयं कूद जो पड़ता है।"

इस प्रकार कवि ने एक क्रान्तिकारी देश-भक्त का स्तवन करके अपनी देश-भक्ति का भी परिचय देता है।

'राही और बाँसुरी' कविता में बाँसुरी को एक ऐसी गायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो अपनी वाणी द्वारा अग्नि-गान प्रस्तुत करती है। इस पर सुप्रसिद्ध आधुनिक कवि श्री बच्चन की 'कोकिला' नाम की कविता का प्रभाव है, यहाँ भी कवि ने वैसी ही काल्पनिकता ( शाप ) का आश्रय ग्रहण किया है, जिससे कोयल काली हो गई, पर उसकी अमृत-वर्षा क्षीण नहीं हुई। कवि मानो अपने प्रति कह रहा हो–

"मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े निकट आए।"

कवि ने अपने इस संग्रह में अङ्गार-गीत प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, इसी कारण कवि ने इस संग्रह का नाम 'सामधेनी' ( अग्नि प्रज्वलित करने वाला मंत्र ) रखा है। वेदों में 'सामधेनी' ऋग्वेद के उन मन्त्रों के लिये आया है, जिन्हें अग्नि प्रदीप्त करते समय पढ़ा जाता था। कवि ने इस शब्द को लोक-काव्य के लिए भी खींच लिया है।

————

## रसवन्ती

इधर श्री दिनकर की पहले की कृतियों के जो नूतन संस्करण निकल रहे हैं, उनमें से पहले संस्करण की भूमिका उड़ा देने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। उनके प्रथम कविता-संग्रह 'रेणुका' की श्री माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित भूमिका हाल के निकले संस्करण में नहीं दी गई है, दूसरा कविता-संग्रह 'रसवन्ती' की भूमिका भी, जो स्वयं कवि द्वारा लिखी गई थी, इस नूतन संस्करण में, जो मेरे पास है, वैसे ही उड़ा दी गई है। पाठकों की दृष्टि में यह प्रवृत्ति उचित नहीं जँचती, क्योंकि भूमिका के द्वारा कवि-हृदय की बहुत-सी बातें, अनेक विचार, जो तद्रचना-काल में कवि-मानस में उदित एवं तिरोहित होते रहते हैं, पाठकों को उसके भावों के हृदयङ्गम करने में, उसे पूर्णतया समझने में, सहायक होते हैं। किसी दूसरे विशिष्ट व्यक्ति द्वारा लिखी गई भूमिका भी, कवि की कृति को समझने के लिए एक विशिष्ट विचार-सरणि प्रस्तुत करती है। अतः पहले की भूमिकाओं का तिरोधान करके कवि अपनी किसी बात को, किसी ख़ास कमज़ोरी को, छिपाने का प्रयास करता प्रतीत होता है।

अस्तु, 'रसवन्ती' में पहले एक ख़ासी लम्बी भूमिका पढ़ने को मिली थी, कवि ने अपने नूतन उद्गारों के रक्षा-कवच के रूप में उसे पेश किया था, पर जो प्रति आज मेरे हाथ में है, देखता हूँ कि अरक्षित रूप में सामने रख दी गई है। हाँ, एक छन्दोबद्ध काव्य-परिचय अवश्य ही रह गया है। कवि का कथन है—

"जग तो समझता है यही,
पाषाण में कुछ रस नहीं,
पर, गिरि-हृदय में क्या न
व्याकुल निर्झरों का वास है ?

बाक़ी अभी रस-नाद हो,
पिछली कथा कुछ याद हो,
तो कूक पञ्चम तान में
संजीवनी भर गान में।"

कवि को लगा कि पाठक स्यात् इस भ्रम में हों कि वह परुष भावों का ही कवि है, हृदय की कोमल भावनाओं का उसमें अभाव है। इस भ्रम का निराकरण करने के लिए उसने 'रसवन्ती' पाठकों के हाथों में रख दी है और लोग इसे देखकर आश्चर्य के शिकार न हो जायँ, अतः वह कहता है कि पाषाण को देखकर लोग समझते होंगे कि यह नीरस है, किन्तु उसी नीरस पाषाण के हृदय में वह आर्द्रता छिपी होती है जो उद्दाम निर्झर की जनयित्री होती है। अब हमें निर्झरिणी की रस-धारा में अवगाहन करने को अग्रसर होना है।

इस संग्रह की प्रथम रचना है 'गीत-शिशु'। इसमें अपने इन गीतों को 'मुकुल' कहा गया है, जो कवि के ध्वंसक इष्ट-प्रलय की वह्नि-माला से सुरक्षित रह गए हैं। सचमुच यह बात कितने ही पाठकों को अचरज में डाल देगी कि जिस प्रकार की कविताओं का यह कवि शुरू से ही विरोधी रहा है, अथवा यों कहें कि प्रणय-गीत गायक कवियों से भीतर ही भीतर ईर्ष्या किया करता था, इसलिए कि वैसा करने को वह स्वाधीन नहीं था, वैसी ही चीजें वैसी ही बेबसी से आज उसे देनी पड़ी हैं। तत्कालीन प्रेम-गायकों को यथा-स्थान कवि ने आड़े हाथों लिया भी था—

"वही धन्य, जिनको लेकर तुम
बसी कल्पना के शतदल पर;
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है
मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर।" —हुङ्कार

किन्तु वैसे मधुमय गीत गाने की लालसा कवि में बराबर बनी रही है, उसकी भी चाह थी—

"मेरी भी यह चाह विलासिनि!
सुन्दरता को शीश झुकाऊँ,

जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो
उधर वसन्तानिल बन धाऊँ।"
—वही

यदि कहूँ कि रसवन्ती की प्रथम रचना 'गीत शिशु' श्री दिनकर की रचना नहीं, श्री सुमित्रानन्दन पन्त की है, तो किसी को चौंकने की ज़रूरत नहीं। इसे पढ़िए और पन्तजी के 'पल्लव' के प्रथम गीत से, जिसका नाम भी 'पल्लव' ही है, मिलाइए—

"ये अबोध कल्पक के शिशु क्या रीति जगत की जानें,
कुछ फूटे रोमाञ्च-पुलक से, कुछ अस्फुट विस्मय से।"

श्री दिनकर ने जिन्हें 'ये अबोध कल्पक के शिशु' कहा है, वह पन्तजी के 'कल्पना के ये विह्वल बाल' ही हैं। 'कुछ फूटे रोमाञ्च-पुलक से', पन्तजी के,

"खिल उठी रोओं-सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल!"

से उठाकर रख दी गई है और 'कुछ अस्फुट विस्मय से' पल्लव की—

"विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर-प्रबाल!"

पंक्ति से ले लिया गया है। इस प्रकार पूरी कविता पन्तजी से ले ली गई है, श्री दिनकर जैसे कवि के लिए यह बात शोभन नहीं कही जायगी। और भी कुछ पंक्तियाँ देखिए;

'सोते-जगते मृदुल स्वप्न में सदा किलकते आये,'
—रसवन्ती ( गीत शिशु )

"सुप्ति की ये स्वप्निल-मुसकान;
सरल-शिशुओं के शुचि-अनुराग,
वन्य-विहगों के गान!"
—पल्लव

सोते समय शिशु के अधरों पर जो स्वर्गीय मुस्कान रह-रहकर खेल जाया करती है, उसी से पन्तजी ने अपने पल्लव-गीतों की उपमा दी है, किन्तु जो सौंदर्य पन्तजी की इन पंक्तियों में झाँक रहा है, वह श्री दिनकरके—

'सोते-जगते मृदुल स्वप्न में सदा किलएते आए'

में कहीं देखने को भी नहीं मिलता। इस पंक्ति में कवि-हृदय की अवतारणा है ही नहीं। इस भाव की अत्यन्त सुचारु एवं मनोहारिणी अवतारणा रवि ठाकुर की गीतांजलि में देखिए, जो पृष्ठ ६६ पर आ चुका है।

यह सौन्दर्य रवींद्र से होता हुआ श्री दिनकर तक किस रूप में आ पहुँचा है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं देख एवं समझ सकते हैं। रसवन्ती की दो और पंक्तियाँ देखिए–

"कुछ विस्मय, कुछ शील दृगों में, अभिलाषा कुछ मन में,
पर न खोल पाते मुख लज्जित, प्रथम-प्रथम परिचय से।"

'कुछ अस्फुट विस्मय से' कवि पहले ही कह चुका है, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति कर दी गई है। शील, अभिलाषा और लज्जा भी शिशु में दिखाई गई है, जो सहज नहीं प्रतिभात होती। इसका स्वाभाविक एवं निखरा हुआ सौंदर्य, जो मर्मज्ञ पाठक की हृत्तन्त्री के तारों को सहसा झंकृत कर देता है, देखिए पन्तजी की इन पंक्तियों में—

"दिवस का इनमें रजत—प्रसार
उषा का स्वर्ण-सुहाग,
निशा का तुहिन अश्रु शृङ्गार,
साँझ का निःस्वन राग,
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुन्दरता की आग!"

'नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार' में जो मार्मिकता है, वह, 'पर न खोल पाते मुख लज्जित प्रथम-प्रथम परिचय से' में उतारने के प्रयास में नीरस हो गई है इसी प्रकार—

'चुन अपरूप विभूति सृष्टि की मैंने रूप सँवारा,
उडु से द्युति, गति बाल लहर से, सौरभ रुचिर मलय से।'

में पन्त जी का उपर्युक्त काव्य-सौन्दर्य कहाँ आ पाया? बच्चों की अबोधता का बार-बार उल्लेख जी उबाने वाला हो गया है—

ये अबोध कल्पक के शिशु, क्या रीति जगत की जानें।
'अर्जित किया ज्ञान कब इनने,'
'अभी अबुध ये खेल रहे थे रज-कण के सञ्चय से।'
सीख न पाये रेणु-रत्न का भेद अभी ये भोले।'

शिशु तो अबोध होते ही हैं, वाच्य रूप में अनेक बार भोलेपन के कार्य और अबुध, भोले आदि का कथन कवि की दुर्बलता का द्योतक है। अन्त में कवि आशा करता है,

'कभी निनादित द्वार तुम्हारा हो इनकी जय-जय से।'

और पन्त जी की आशा देखिए—

आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुञ्जित मधु-मास;
मुग्ध होंगे मधु से मधु - बाल
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश !

कितना अन्तर है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के अनुकरण कवि का कार्य नहीं है। इसी से कहा गया है,

कविरनुहरतिच्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः।
सर्व - प्रबन्ध - हर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

यों तो ऐसा कोई कवि नहीं जो अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से प्रभावित न हो, किन्तु उसका समुचित उपयोग ही काव्य-शोभाकर होता है, सब कुछ हरण कवि द्वारा नहीं औरों द्वारा होता है, जैसा कि कहा गया है,

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
उत्पादकः कविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्तकः ।।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः।

रसवन्ती के इस प्रथम 'गीत शिशु' में, श्री दिनकर का कवि 'परिवर्तक' की श्रेणी में आता है अथवा 'संवर्गक' की श्रेणी में, इसे विद्वान् पाठक स्वयं समझ लेंगे।

'रसवन्ती' शीर्षक कविता में कवि ने रसवन्ती में संग्रहीत गीतों का उद्भव-हेतु हृदय की मजबूरी बतलाया है, जैसे शैल से वारिधारा बाधा-बन्धनों को तोड़ती हुई प्रवहमती हो उठती है, उसी प्रकार ये कविताएँ जो शृङ्गार-रस की हैं, बे-रोक कवि-हृदय से समुद्भूत हो गई हैं, इनका जन्म अयत्नज है कवि के शब्दों में सुनिये—

"उठेगा व्याकुल दुर्दमनीय
क्षुब्ध होकर जब पारावार,
रुद्ध होगा कैसे हे देवि !
धृष्ट शैलों से कण्ठ-द्वार ?
फोड़ दूँगा माया का दुर्ग,
तोड़ दूँगा यह वज्र-कपाट,
व्योम में गाने को जिस रोज
बुलायेगा निर्बन्ध विराट।"

इसी सिलसिले में कवि ने अपने पूर्व जीवन का परिचय भी दे डाला है और अपनी शृङ्गार-भावना का किस प्रकार उसने उस समय दमन कर रखा था, इसे बताकर वह शृङ्गार-भावना के उदय का स्मरण भी प्रेयसी को दिलाता है—

"याद है वह पहला मधु-मास
कोरकों में जब भरा पराग,
शिराओं में जब तपने लगी
अर्द्ध-परिचित-सी कोई आग।"

उधर से खँडहरों के बीच खींच लाने वाली कवि की 'कुटिल नियति' थी, अन्यथा उसी दिव्य लोक में रहना उसके लिए वरेण्य था। अस्तु, कवि की रचनाओं को देखना चाहिए, जिन्हें गाने के लिए वह नियति द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया था। 'गीत-अगीत' कविता में गायक और उससे भावित के दो चित्र उतारे गए हैं, कवि भावित को अधिक महत्त्व प्रदान करना चाहता है अर्थात् मूक प्रेयसी ही विशेष रूप से आकर्षक होती है, वही गीत का आलम्बन भी बन जाती है। 'बालिका से वधू' में एक ग्राम-बाला का चित्रण है, जो नई-नई ससुराल जा रही है। गाँव का सीधा-सादा शृङ्गार और गोटा-मढ़े किनारोंवाली पीली साड़ी यही उसकी वेश-भूषा है। षोडशी ग्राम्या का नवोढ़ा-स्वरूप कवि ने सुन्दर और स्वाभाविक चित्रित किया है—

"लदी हुई कलियों से मादक
टहनी एक नरम—सी,
यौवन की विनती-सी भोली
गुम-सुम खड़ी शरम—सी।"

अपने पितृगृह के वियोग की व्यथा से उसका अन्तस्तल व्यथित है, जहाँ की धूल में सहेलियों के साथ खेलकर, खेतों में घूम-घूम कर, बाग-बगीचों के अंक में निश्चिन्त रहती हुई उसने सोलह साल बिता दिये, वहाँ के न केवल जन, अपितु पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, खेत-खलिहान और धरती-आकाश तक के साथ आत्मीयता हो गई है, इन सबका एक साथ वियोग और एक अपरिचित वातावरण में जाकर भावी निवास की कल्पना ही हृदय को व्यथित किए देती है। यह भी सच है कि जिस जीवन-सहचर के साथ सदा रहना होता है, जिसे नारी सर्वस्व समर्पित कर देती है, उससे मिलने की स्वाभाविक लालसा भी अन्तस्तल में हिलोरें लेती है। पर साथ ही पीहर की वियोग-वेदना भी हृदय की उतनी ही सच्ची समुद्भूति होती है, इसमें सन्देह नहीं। पर 'बालिका से वधू' का कवि जब यह कहता है—

"पी चुपके आनन्द, उदासी
भरे सजल चितवन में,
आँसू में भींगी माया
चुपचाप खड़ी आँगन में !"

और दो क़दम आगे बढ़कर यह—

"भींग रहा मीठी उमङ्ग से
दिल का कोना—कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो,
बाहर - बाहर रोना ।"

तब उसकी शब्दावली यह बतलाती है कि उसके आँसू हार्दिक व्यथा से उद्भूत नहीं हैं, केवल दिखाने के लिए यत्न द्वारा लाए गए हैं। ऐसे अवसर पर कवि के पास एक अनुभूति-प्रवण हृदय होना चाहिए, जो बालिका के अन्तस्तल में पहुँच जाय, उसके हर्ष-शोक की सम्यक् परख कर सके, एक तटस्थ दर्शक ऐसे मार्मिक स्थल का सफल चित्र अङ्कित नहीं कर सकता। उसके पास एक पिता का हृदय भी होना चाहिए। यह कविता देखते ही शकुन्तला की महर्षि कण्व के आश्रम से विदा का दृश्य सामने उतर आता है। इस कवि के सामने भी इस कविता के लिखते समय शकुन्तला का वह स्वरूप उतरा था, पर वह सहजता कवि अपनी रचना में नहीं ला सका। इसीलिए 'वधू' के वर्तमान स्वरूप से उसकी दृष्टि हटकर प्रेम का ही दृश्य देखने लगती है, जो प्रस्तुत है, उधर से उसका ध्यान खिसक जाता है। मानो कवि उस वधू विशेष के हृदय की बात पहले ही से जानता हो अन्यथा जो आँसू उसे प्रत्यक्ष दृष्टि आ रहे हैं, उन्हें वह कोरा बनावटी क्यों मान लेता। ऐसे अवसर पर नारी-हृदय का जो यथार्थ-स्वरूप होता है, उस तक कवि-कुल-गुरु कालिदास की कवि-दृष्टि पहुँची थी और उन्होंने शकुन्तला के मन की बात जनान्तिक में प्रियंवदा से कहलवा दी थी, सुनिए—

"हला पिअंवदे णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टन्ति ।"

अर्थात् 'सखि प्रियंवदे, यद्यपि मेरे मन में आर्यपुत्र के दर्शन की उत्सुकता है, तथापि आश्रम-स्थान को छोड़ने में मेरे पैर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं।' इस वियोग-दुःख को प्रियंवदा समझती है और इसीलिए, वह उत्तर में कहती है—

"ण केवलं तवोवण विरहकादरा सही एव्व तुए उवट्ठिद विओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ ।"

अर्थात् 'हे सखी, तपोवन के विरह से केवल तुम्हीं सन्तप्त नहीं हो, तुम्हारे वर्तमान वियोग में तपोवन की भी वैसी ही ( सन्तप्त ) दशा है।' किन्तु यहाँ श्री दिनकर वधू के पुराने सभी प्रिय स्वादों ( सम्बन्धों ) को उलट देते हैं, मानो अब वधू को उन पुराने प्रियजनों, प्रिय वस्तुओं और प्रिय स्थलों के प्रेम-सम्बन्ध में कोई आकर्षण ही न हो। इसका समर्थन करते हुए वे कहते हैं—

"पड़ जाता चस्का जब मोहक
प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है
दुनिया में जीने का।"

गोया दिनकर ग्राम से हटकर नगर की बात कर रहे हैं, आधुनिका की बात कर रहे हैं, क्योंकि वहाँ यह सब सम्भव भी हो सकता है। ये ग्राम्यवधू का सम्बन्ध सरसों की क्यारी, वृक्ष, पोखरे, आम्र-मंजरी, खेत की फसल आदि से भी जोड़ते हैं, पर जैसे कवि में हार्दिकता का अभाव हो, वह लिख रहा है इसलिए कि इस दृश्य पर लिखना चाहिए। पर, हृदय से भाव बरबस उत्थित होकर कवि-वाणी के रूप में उद्गीर्ण नहीं हो सके, इसीलिए रचना शिथिल होकर रह गई है; देखिए—

"वृक्ष रीझकर किसे करेंगे पहला फल अर्पण-सा ?"

'अर्पण-सा' कहकर कवि ने सहृदयता का परिचय नहीं दिया।

"झुकते किसको देख पोखरा चमकेगा दर्पण-सा ?"

इस पंक्ति के 'दर्पण-सा' का तुक मिलाने के यत्न में कविता की क्षति ही हुई है। शकुन्तला के लिए लता-वृक्षों ने पुष्प-दलमय मण्डन अर्पित किए, 'अर्पित-सा' नहीं किए—

"क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्,
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवता - करतलैरापर्वभागोत्थितै–
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥"

श्री दिनकर की दृष्टि वधू के पीहरवाले व्यावहारिक प्रेम-स्वरूप पर गई ही नहीं। महर्षि कण्व और उनके आश्रम-वासियों के आशीर्वचन सुनिए और तब प्रस्तुत कवि का आशीर्वाद देखिए। शकुन्तला की यात्रा के समय आकाश से यह आशीर्वचन सबको सुनाई पड़ता है—

"रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः
भूयात् कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥"

इसका पथ मङ्गलमय हो, पथ में थोड़ी-थोड़ी दूर पर नीली कमलिनियों से आच्छादित सरोवर मिलते जायँ, आतप का निवारण करनेवाली वृक्षों की शीतल छाया प्राप्त होती रहे, धरती की धूल कमल के मकरन्द-सी सुखदायिनी हो और शीतल, मन्द एवं सुगन्धित पवन अनुकूल बहता हुआ इनकी सेवा करे। यह आशीर्वाद पथ के लिए कालिदास ने दिया था शकुन्तला के लिए। श्री दिनकर इससे अवगत होते हुए, केवल इतना ही ग्रहण कर सके, 'शिवश्च पन्थाः'—

"मङ्गलमय हो पन्थ सुहागिन,
यह मेरा वरदान।"

महर्षि कण्व का शकुन्तला को यह आशीर्वाद है—

"ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि।"

इसके पूर्व तीन तापसियों ने भी बड़े सुन्दर आशीर्वाद दिए हैं। एक कहती है कि तुम पति की अत्यन्त आदरवती होकर 'महादेवी' का पद प्राप्त करो, दूसरी कहती है कि तुम पति की प्राण-प्रिया होओ और तीसरी की मङ्गल-कामना है कि तुम वीर पुत्र की जननी होओ। श्री दिनकर के कवि का आशीर्वचन सुनिए—

"हरसिंगार की टहनी से फूलें तेरे अरमान।
जगे हृदय को शीतल करनेवाली मीठी पीर,
निज को डुबो सको निज में, मन हो इतना गंभीर।
छाया करती रहे सदा तुमको सुहाग की छाँह,
सुख-दुख में ग्रीवा के नीचे हो प्रियतम की बाँह।
पल-पल मङ्गल-लग्न, जिन्दगी के दिन-दिन त्यौहार,
उर का प्रेम फूटकर हो आँचल में उजली धार।"

हरसिंगार की टहनी जैसे फूलों से लद जाती है, वैसे अरमान तेरे हृदय की टहनी में खिलें। किन्तु सूर्य-किरणों के स्पर्श मात्र से ही वे फूल झड़ जाते हैं और फिर टहनी दिन भर रिक्त! क्या यही आदर्श आशीर्वाद है? 'शीतल पीर' भी वियोग में उठती है, उसको देने की कौन-सी ज़रूरत समझी गई? 'आँचल में उजली धार' से यह तात्पर्य कि वह पुत्र अथवा पुत्री पैदा करे। दूध के लिए

'उजली धार' लाया गया है, वही गुप्तजी का कथन—

"नारी-जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

यदि यह कवि कवि-गुरु के इस अंश को ध्यान से पढ़ लेता तो वर्तमान वातावरण के अनुकूल प्रकृति का. चित्रण करने के साथ ही देश-प्रेमी वीर पुत्र की माता बनने का आशीर्वाद देता, जो उसकी पूर्व कृतियों के गौरवानुरूप होकर काव्य के महत्त्व की रक्षा करने में समर्थ होता, किन्तु उसकी दृष्टि शीतल पीरवाले आधुनिक प्रेम पर ही टिकी रह गई।

'दाह की कोयल' रचना में कवि ग्रीष्म ऋतु में मीठी स्वर-लहरियाँ उठानेवाली कोयल से बातें करता हुआ, स्वयं भी स्मृति-लोक में विचरण करने लगता है और बीते सुख-वसन्त का स्वरूप उसके ध्यान में उतर आता है। वह वर्तमान दुःख ग्रीष्म से दूर जा पड़ता है—

"प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल?"

वातावरण को अति तापमय एवं प्रभावशाली चित्रित करने के लिए कवि उसका यथार्थ स्वरूप अङ्कित करने में उतना सफल नहीं रहा है। यह रचना 'ससराम, ज़िला शाहाबाद' में प्रस्तुत की गई है, किन्तु कवि रेगिस्तान का ही चित्र प्रस्तुत करने में जी-जान से तुला दिखाई पड़ता है—

"दूर छूटी छाँहवाली डाल,
दूर छूटी तरु-द्रुमों की माल;
दूर छूटा पत्तियों का देश,
तलहटी का दूर रम्य प्रदेश;"

जिस बात को कवि एक पंक्ति में कह सकता था, उसके लिए व्यर्थ ही ये चार पंक्तियाँ ख़र्च कर दी गई हैं। 'दूर छूटी छाँहवाली डाल' इसी के लिए 'तरु-द्रुमों की माल, पत्तियों का देश, रम्य प्रदेश' आदि व्यर्थ ही ला बाँधे गए हैं और 'तरु' के बाद फिर 'द्रुमों' का लाना तो और हास्यास्पद हो गया है। कोकिल ग्रीष्म में भी उत्साह से अपनी मादक वाणी सुनाती रहती है, पर कहाँ? उपवनों, बागों और वनों में ही। जहाँ वृक्ष नहीं होते वहाँ कोयल रहती ही नहीं, इस वास्तविकता पर कवि का ध्यान ही नहीं जा पाता। कवि-कर्म इतना सरल नहीं होता वहाँ तो एक-एक शब्द तोलकर उचित रूप में मनोनुकूल भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है, एक भी शब्द फ़ालतू नहीं होता।

पर इस रचना में तो ऐसा नहीं लगता। आगे चलकर छन्दोयोजना पूर्ववत् क़ायम नहीं रह सकी है, कहीं एक चरण छोटा तो दूसरा बड़ा, किन्तु तुक मिलाना विस्मृत नहीं हो सका। 'खोल' का जहाँ तुक उपलब्ध नहीं हो सका वहाँ फिर उसी पहले ही तुक को दुहरा दिया गया—

दाह के आकाश में पर खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है, वह यह कि कोयल 'पर खोल' कर बोल रही थी! कोयल किसी वृक्ष की टहनी या डाल पर बैठकर ही मस्ती में कूक उठती है, आकाश में उड़ती हुई नहीं। प्रकृति-निरीक्षण के अभाव में इस प्रकार की चीज़ें हिन्दी-कविता में आकर उसके गौरव का ह्रास ही करती है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध प्रकृति-कवि वर्ड्स्वर्थ ने भी कोयल पर कविता की है, उसे देखकर कहिए कि वह भी एक प्रकृति का निरीक्षण ही है। श्री दिनकर के कवि ने उस कवि का यह गान सुना है, पर दोनों में अन्तर कितना आ गया है, यह ध्यान देने की चीज़ है—

"O little new comer! I have heard,
I hear thee and rejoice:
O Cuckoo! shall I call thee bird
or but a wandering voice?"

वर्ड्स्वर्थ कोकिल को गतिमती वाणी (wandering voice) कहना चाहता है, क्योंकि उसकी ध्वनि पूरे वातावरण को आच्छादित कर लेती है, किन्तु हिन्दी का कवि कहता है,

"दाह के आकाश में पर खोल,"

और अंग्रेज कवि कहता है,

"Though babbling only to the vale
Of Sun-shine and of flowers,
Thou bringest unto me a tale
Of visionary hours."

ऊपर की दो पंक्तियों को लेकर श्री दिनकर कहते हैं—

"तुम मिलीं ओढ़े सुवर्ण दुकूल,
भोर में चुनते विभा के फूल।"

कोयल सूर्योदय से पूर्व अपनी रागिनी छेड़ती है, उसी को लेकर यह कहा गया

है—लाक्षणिक शब्दावली में। काल्पनिक क्षणों ( visionary-hours ) का आख्यान उपस्थित करनेवाला उसे वर्ड्स्वर्थ ने कहा और हमारा कवि कहता है—

"मुँद गईं पलकें कि जागी पीर,
पीर बिछुड़ी चीज़ की तस्वीर।
प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल।"

कोयल की अदृश्यता के विषय में कवि कहता है—

"The same whom in my school-boy days
I listen'd to, that cry
Which made me look a thousand ways
In bush, and tree, and sky.
To seek thee did I often rove
Through woods and on the green;
And thou wert still a hope, a love;
Still long'd for, never seen!"

किन्तु हमारे कवि को वही कोयल रेगिस्तानी प्रदेश के आकाश में पंखों को खोलकर गान सुनाती दिखाई पड़ी। और कविता का पर्यवसान होता है—

"लूह में आशा हरी सुकुमार,
दाह के आकाश में मन्दाकिनी की धार;
धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल!"

हरी सुकुमार-आशा के अतिरिक्त वह आकाशीया मन्दाकिनी की धार कही गई है और अन्त में 'धूप में उड़ती हुई वही अनमोल शबनम हो गई। कहाँ तो मन्दाकिनी की धारा और कहाँ धूप में उड़ती शबनम का अस्तित्व! इसी को प्राचीनों ने 'पतत्प्रकर्ष' नामक महान् दोष माना है।

यों तो विश्व-साहित्य का अधिकांश नारी को ही लेकर सृष्ट हुआ है, और हिन्दी-साहित्य का एक काल नारी की यौवन-सुषमा के ही सजाने में समाप्त हो गया, किन्तु आधुनिक नव-युगावतार में उसे नूतन कला का आवरण देकर विशेष आकर्षक रूप में लाया गया। छायावाद की कविता ने प्रमुख रूप से नारी को ही अपना आलम्बन बनाया था और वह प्रकृति के विभिन्न रूपों में भी नारी की छाया देखती रही। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' और श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने नारी को ही प्रमुखतया अपने काव्य का आलम्बन चुना था। शृङ्गार या रीति युग के कवियों से इनका दो बातों में विशेष अन्तर देखा जा सकता है; पहली

बात है, भाव-प्रकाशन की शैली और दूसरी है बाह्य स्वरूप से किञ्चिन्मात्र आगे जाकर मनोभावों के वैविध्य का चित्रण, इसमें भी वियोग-पक्ष की प्रधानता है। संयोग है, पर अत्यल्प। श्री पन्त ने तो कविता का जनक वियोग को ही मान लिया था—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजे होंगे गान,
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"

उस समय हिन्दी के नए कवियों पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा था, वैसा प्रभविष्णु उस समय अन्य कोई भी कवि नहीं था। कविवर 'दिनकर' भी उनके प्रभाव से निर्लिप्त नहीं रह सके थे। इनकी अनेक कविताओं पर पन्त जी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। छायावाद की कुहेलिका से बाहर निकलने के पश्चात् श्री पन्त ने दुनिया को एक दूसरी नूतन दृष्टि से देखा और उनकी युगवाणी तथा ग्राम्या में 'नारी' पर जितनी रचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनमें उनकी बदली हुई दृष्टि देखी जा सकती है। हाँ, छायावादी पन्त जी ने नारी को जिस रूप में देखा था, उसका प्रतिनिधित्व उनका 'गुञ्जन' की 'भावी पत्नी के प्रति' नामक रचना करती है और उसी के साथ-साथ 'मधुवन' भी। कवि-श्री 'दिनकर' ने 'रसवन्ती' में नारी पर तीन रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, दो का शीर्षक 'नारी' है और तीसरी 'पुरुष-प्रिया'। पहली 'नारी' रचना पर छायावादी पन्तजी का प्रभाव प्रत्यक्ष है, छन्द भी वही लिया गया है। देखिए—

"खिली भू पर जब से तुम नारि
कल्पना-सी विधि की अम्लान;
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि!
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान।"

दोनों कवियों में अन्तर यह है कि पन्तजी ने 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'मधुवन' नामक कविताओं में आत्म-कल्पना और प्रत्यक्षानुभूति को स्थान दिया है और श्री 'दिनकर' ने परोक्षानुभूति या परानुभूति से ही काम चलाया है। इसीलिए पन्त जी के काव्य में जो लोकोत्तरता आ गई है, उसका श्री 'दिनकर' में अभाव है और यह 'नारी' रचना इतिवृत्तात्मक होकर रह गई है। 'नारी' से कवियों को नूतन स्वप्न मिले, शिल्पकार को नई कला और ज्ञानियों ने भी पुरुष को प्रकृति ( नारी ) के चरणों पर आत्म-समर्पण करते देखा। बहुत

पुरानी इस उक्ति को इस कवि ने भी अपना लिया कि नारी जिधर-जिधर देखती है उधर-उधर कमलों की पाँत सज जाती है—

"दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
खिल गई कमल-पंक्ति अम्लान;"

एक संस्कृति के कवि ने कहा है—

"अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी
द्वारि स्थिता तदुपयान-महोत्सवाय।
सा पूर्णकुम्भ-नव - नीरज - तोरणस्त्रक्
संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते।"

राम-चरित-मानस में चकित दृष्टि इधर-उधर दौड़ाकर राम को खोजती हुई सीता की आँखों के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

"चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृप-किसोर मन चिंता॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नयनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी॥"

रीति-काल के प्रसिद्ध रस-सिद्ध कवि देव ने संस्कृत-कवि की छाया लेकर कहा—

"तीखी दिन चारिक ते सीखी चितवनि प्यारी
'देव' कहैं भरि दृग देखति जितै-जितै।
आछी उनमील नील सुभग सरोजन की
तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै।"

वीर-व्रती पुरुष जो अपनी उच्छृङ्खलता के सम्मुख किसी अन्य शक्ति के सम्मुख नत-मस्तक होना नहीं चाहता, नारी की एक कोमल दृष्टि के पाश में अपने आप बँध जाता है, नारी के सम्मुख घुटने टेक देता है और उसे प्राप्त करने के निमित्त असम्भव को सम्भव में परिणत कर देता है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। प्रस्तुत कवि ने राम के धनुर्भङ्ग, अर्जुन के लक्ष्य-वेध, फरहाद के दूध की धारा बहाने के कठिन कर्म, राम का माया-मृग के पीछे दौड़ पड़ना आदि सभी कर्मों को नारी की विजय के फल-स्वरूप ही दिखाया है। अतः कवि ने नारी को 'एक लघु दिव' कहा है और उसके भू पर अवतीर्ण होने को कल्पना का आकार धारण करना कहा है—

"न छू सकते जिसको हम देवि!
कल्पना वह तुम अगुण अमेय;

भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय !"

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'प्रिया' का काल्पनिक चित्रण करते हुए कहा है—

"कल्पना तुममें एकाकार,
कल्पना में तुम आठों याम;
तुम्हारी छवि में प्रेम अपार,
प्रेम में छवि अभिराम।
अखिल इच्छाओं का संसार
स्वर्ण-छवि में निज गढ़ छविमान;
बन गई मानसि ! तुम साकार
देह दो एक-प्राण।"

इसका रचना-काल पन्तजी ने नवम्बर, सन् १९२५ कहा है और 'गुञ्जन' प्रकाश में आई सन् १९३२ में और श्री 'दिनकर' की यह रचना उनके लेखनानुसार हुई सन् १९३६ में और पुस्तकाकार आई सन् १९४० में। प्रस्तुत कवि ने नारी को सामान्य रूप में कविता में उतारा है, इसीलिए उसके केवल युवती-स्वरूप का ही अङ्कन नहीं किया गया है अपितु उसके मातृ-स्वरूप का भी किंचिन्मात्र संस्पर्श हुआ है—

"अरी लो मा, हमने है पिया,
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।"

और,

"पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु-मकरन्द:
तृषा प्राणों की पर हे देवि !
एक पल का न सकी हो मन्द।"

किन्तु कवि का ध्यान विशेष रूप से नारी के 'प्रेयसी' रूप पर ही टिका रहा है। बीच में केवल दो पंक्तियाँ मातृत्व के लिए उठाकर रख दी गई हैं, जैसे कर्तव्य समझ कर। पर, इस प्रकार मातृत्व की योजना जैसे ऊपर की पंक्तियों में. और—

"तुम्हारे अधरों का रस प्राण !
वासना-तट पर पिया अधीर;
अरी लो मा, हमने है पिया,
तुम्हारे स्तन का उज्वल क्षीर।"

जैसी पंक्ति रस-सृष्टि के पथ में रसाभास की सृष्टि करती है। फिर आगे नारी के विषय में वही प्राचीन धारणा कि वह एक रहस्य है, जिसे समझा नहीं जा सकता और वह एक मोहिनी माया है जो कवि को वशीभूत करके अपने संकेतों पर नचाती रहती है। कहने का तात्पर्य यह कि नारी को कवि ने इस युग में भी नर की भाँति ही एक प्राणी नहीं माना है, जिसके भीतर भी वे ही भावनाएँ सञ्चरित होती रहती हैं जो नर में और वह भी परिस्थितियों की अनुगामिनी ही होती है, इसके अतिरिक्त न तो वह कल्पना है और न ही रहस्य। 'नारी' नाम की एक दूसरी कविता इसमें संग्रहीत है, वह पहली के बाद की लिखी हुई प्रतीत होती है। यद्यपि कवि ने पहली रचना की भाँति इसका रचना-काल नहीं दिया है, तथापि यह उस समय की प्रतीत होती है, जब प्रगतिवाद कविता-क्षेत्र में पूर्णतया खुल-खेल रहा था। 'नारी' पर सबसे अधिक परिमाण में रचनाएँ प्रस्तुत करनेवाले कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं। उन्होंने नारी को विभिन्न रूपों में देखा है, चित्रित किया है। छायावाद से निकलने के पश्चात् स्वच्छन्द कवि रूप में आकर उन्होंने ही पहली आवाज़ उठाई थी कि नारी को मानवी से अतिरिक्त कुछ और न समझो, उसे नर-सी ही मुक्ति दो—

"मुक्त करो नारी को मानव!
चिर-बन्दिनि नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को।

पुरुष-वासना की सीमा से
पीड़ित नारी - जीवन,
नर नारी का तुच्छ भेद, है
केवल युग्म विभाजन।

उसे मानवी का गौरव दे
पूर्ण स्वत्व दो नूतन,
उसका मुख जग का प्रकाश हो
उठे अन्ध अवगुण्ठन।"

आगे चलकर ग्राम-नारी, स्त्री, आधुनिका, नारी आदि अनेक रचनाएँ उन्होंने ग्राम्या में भर दीं। 'ग्राम-वधू' में जो रोदन उन्होंने दिखाया है, उसमें उन्होंने कृत्रिमता और रूढ़ि-पालन ही देखा है। इसी बात को श्री दिनकर ने भी अपनी 'बालिका से वधू' में दिखलाया है। किन्तु यह एक तटस्थ दर्शक की ही

दृष्टि है, अन्तरात्मा तक प्रवेश करनेवाले कवि की नहीं। अस्तु, 'स्त्री' नाम्नी रचना में पन्त जी ने तीन नारी-चित्र दिये हैं; एक है अमर प्रणयिनी का चित्र, दूसरा है कामिनी का चित्र और तीसरा चित्र है विलासिनी का। कवि ने ग्राम-नारी' को आदर्श नारी माना है, जिसमें नारीत्व का स्वाभाविक विकास मिलता है—

"स्वाभाविक नारी-जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म-निष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर,
श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्राम-नारी, नर की जीवन-सहचर।
+ + +
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।"

कविवर 'दिनकर' ने अपनी दूसरी 'नारी' रचना में नारी के दो चित्र उपस्थित किए हैं, एक है आधुनिका का और दूसरा ग्रामीणा का। आधुनिका को उन्होंने बताया है कि वह वासनोन्मदा हो दूसरों की आँखों को अपनी ओर खींचने के लिए कृत्रिम शृङ्गार-सज्जा अपनाती है। किन्तु वे इन वासना की तितलियों को एक पते की बात बतलाकर सावधान करने से भी नहीं चूकते और गम्भीर व्यंग का तीखा प्रहार भी कर देते हैं। पहले शृङ्गार देखिए—

"पहन नील किर्मीर वसन तितली से पंख लगाये,
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ रही हो?
भ्रू की रेखा सजा, राग से रँग कपोल-अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो, किस आसन्न विजय से?"

आगे इस 'लालसा-लहर' (आधुनिका) की वास्तविकता का उद्घाटन करता हुआ कवि कहता है—

"जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बाँधोगी?
निरुद्देश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का?
नहीं जानती हो, जितनी है हलकी चोट तुम्हारी,
उससे भी हलकी है इन बिंधनेवालों की पीड़ा।"

अन्त में स्वाभाविक नारीत्व को जगाने का परामर्श दिया गया है। आधुनिका के सम्मुख ग्रामीणा को कवि ने उपस्थित किया है, जो अपने पैर की उँगलियों तक को चादर से ढककर बैलगाड़ी पर बैठी ससुराल जा रही है। कवि ने उसे

'समाज की विवश बन्दिनी' कहा है। किन्तु वह यह भी कहता है कि मनोबल के क्षीण हो जाने पर भी एक चीज़ ऐसी है, वह जिसे अपने मन के भीतर सुरक्षित संचित कोष की भाँति छिपाये हुए है, किसी भी मूल्य पर उसे वह त्यागना नहीं चाहती और वह है उसका 'शील'। इस शील के दर्पण पर वह जग के मल को आने नहीं देना चाहती, यही उसका जीवन-सर्वस्व है। किन्तु आधुनिका इस दर्पण को अनेक बार कलुषित करती है। ग्राम्या की इसी शीलवती मूर्ति को देखकर कवि बे-रोक कह उठता है–

"काँप रही शङ्कित मृगी-सी वह सिकुड़ी-सिमटी भी,
जी कहता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उड़ा दूँ!
या कि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को,
आँखों में जिसके बलने से दिशा काँप जायेगी।"

यहाँ श्री 'दिनकर' के कवि का अपना सहज स्वरूप प्रकट हुआ है, जिसमें पौरुष है, ओज है। आगे उस ग्राम्या के मातृ-रूप का चित्रण किया गया है और मातृत्व में ही नारीत्व की चरम परिणति दिखाई गई है। इसके विपरीत उन आधुनिकाओं की विगर्हणा की गई है जो सन्ततिनिरोधी उपचारों द्वारा कृत्रिम वन्ध्या बनकर चिर-कुमारिका बनी रहने में ही अपने जीवन की चरम सार्थकता माने बैठी हुई हैं। अतः वे 'नारी' कहलाने योग्य नहीं हैं, और चाहे वे जो भी हों। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'आधुनिका' शीर्षक कविता में थोड़े में सारी बातें कह दी हैं और इसमें सन्देह नहीं कि ग्रामीणाओं की ओर देखने के लिये उन्होंने ही हिन्दी-कविताओं को प्रेरित किया है—

"पशुओं से मृदु चर्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
ऋतु-कुसुमों से सुरँग, सुरुचिमय चित्र-वस्त्र ले सुन्दर,
सुभग रूज़, लिप-स्टिक, औस्टिक, पौडर से कर मुख रंजित,
अंगराग, क्यूटेक्स, अलक्तक से बन नख-शिख शोभित।

\+ \+ ×

नारी की सौन्दर्य मधुरिमा औ' महिमा से मण्डित,
तुम नारी उर की विभूति से हृदय सत्य से वञ्चित।
लहरी-सी तुम चपल, लालसा श्वास-वायु से चंचल
तितली-सी तुम फूल-फूलपर मँडराती मधु-क्षण हित।

\+

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।"

पन्तजी की 'ग्राम्या' की ग्रामीणा नारी और 'आधुनिका' द्वारा 'दिनकर' ने प्रेरणा प्राप्त की और दोनों को आमने-सामने रखकर 'नारी' रचना प्रस्तुत की है। 'ऋतु-कुसुमों से सुरँग-सुरुचिमय चित्र-वस्त्र ले सुन्दर' का 'चित्र-वस्त्र' 'दिनकर' के यहाँ आकर 'किर्मीरवसन' हो गया है। और भी शृङ्गारोपकरण एवं भाव भी वे ही हैं।

पुरुष-प्रिया' नाम्नी रचना में भी नारी-सौंदर्य से पुरुष की पराजय और नारी-पुरुष का शाश्वत सम्बन्ध चित्रित किया गया है, जैसा कि अंशतः पहली 'नारी' रचना में दिखाया जा चुका है।

'अगुरु धूम' और 'रास की मुरली' नामक गीतोंमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की झाँकी मिल सकती है। प्रारम्भिक काल के पन्तजी उनसे विशेष रूप से प्रभावित हुए थे, किन्तु आगे उन्होंने अपना एक मौलिक पन्थ बना लिया। कई तो उनसे अति प्रभावित होकर दर्शन में ही बातें करने लगे थे। फलस्वरूप अध्यात्म की चर्चा ने ज़ोर पकड़ा। रवि ठाकुर की 'गीताञ्जलि' पश्चिम द्वारा पुरस्कृत हुई थी, अतः बहुतों ने तो अध्यात्मवाद में ही कविता की इतिश्री समझ ली थी। रवि ठाकुर ने जीवन की वास्तविक भूमि से सम्बद्ध रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत की थीं, किन्तु उधर लोगों की दृष्टि ही नहीं गई। हिन्दी के अनेक कवियों ने रहस्यवादी कहलाना अपने लिए महान् गौरव की वस्तु मान ली और कई कवियों ने जो सामान्य लोक-जीवन के मर्म-पथ पर चलकर उत्तम कोटि का काव्य प्रस्तुत कर रहे थे या प्रस्तुत कर सकते थे, वे भी अस्वाभाविक ढंग से दर्शन और वेदान्त को कविता में उतारने के अनगढ़ प्रयास में प्रवृत्त हो गए। निर्गुण के प्रति अपने प्रेम की संयोगात्मक-वियोगात्मक काल्पनिक अनुभूतियों के चित्र-विचित्र रूप में नुमाइशी चित्रण उपस्थित करने लगे।

श्री 'दिनकर' की ये दोनों कविताएँ कुछ-कुछ वैसी ही हैं। कबीरदास से रवीन्द्र ठाकुर ने अपनी प्रतिभा द्वारा लाभ उठाया, यह सच है, पर रवि बाबू से उतना लाभ उठाने का प्रयास नए कवियों का बचपन ही कहा जायगा। यों तो इस भाव की रवि ठाकुर की अनेक कविताएँ हैं, पर आपके सम्मुख एक चीज़ आदर्श या नमूने के तौर पर पेश की जा रही है—

"I asked nothing from thee; I uttered not my name to thine ear. When thou took'st the leave I stood silent,........, Thy voice was tired as thou spokest

low—'Ah, I am a thirsty traveller.'......I stood speechless with shame when my name thou didst ask. Indeed what had I done for thee to keep me in thy remembrance? But the memory that I could give water to thee to allay thy thirst will cling to my heart and enfold it in sweetness. The morning hour is late the bird sings in weary notes, neem leave rustle overhead and I sit and think and think."

Gitanjali, 54.

इससे 'अगुरु-धूम' को मिलाइए तो देखिएगा कि उसी जीवात्मा की भाँति यहाँ 'दिनकर' जी की उपासिका भी प्रेम-विह्वला हो उठी है और रवि ठाकुर की उपासिका के समान ही इनकी साधिका को भी उसके प्रियतम याचक के रूप ही आ मिले और ईषत् प्रेम-व्यञ्जना के अनन्तर अन्तर्धान हो गए, उसे कलपती छोड़कर। 'दिनकर' जी की नारी-मूर्ति भी अनुताप व्यक्त करती हुई कहती है—

"कल सौंप गए जो मुझे प्रेम
देखो उसका शृङ्गार आज;
मैं कनक-थाल भर खड़ी,
बुद्ध-हित ले जाओ उपहार आज;
सब भूल गई, कुछ याद नहीं
तरुणी के मद की बात आज;
आओ पग छू हो जाऊँगी
रमणी मैं रातों-रात आज।
+ + +
आओ कर लो नौका-विहार,
लौटो भिक्षुक, लौटो किशोर!"

इतने पर भी रवि ठाकुर का-सा भाव-लोक का अवतरण कहाँ हो सका और न ही भारत के लोक-हृदय में बसे पनघट और सहज प्रकृति का भावाकुल-कारक विधान ही कविता के इतने विस्तार में भी आ पाया। 'रास की मुरली' का केन्द्र-विन्दु खोजकर इन पंक्तियों को देखिए—

"अरी भोली मानिनि! इस रात
विनय-आदर का नहीं विधान,

## द्वन्द्व गीत

इस संग्रह में कवि की रुबाइयों का एक अच्छा ख़ासा संग्रह है। इसमें जीवन की नश्वरता का चित्रण अनेक प्रकार से किया गया है। सौंदर्य की बोध-वृत्ति के साथ-साथ अपनी नश्वरता के बोध ने कवि में करुणा का उद्रेक किया है। प्रकृति अनश्वर है, किन्तु मानव नश्वर। इसलिए वह खुलकर आनन्दोपभोग नहीं कर पाता, इस प्रकार की भावना का प्राबल्य छायावादी कवियों में श्रीरामकुमार वर्मा में दिखाई पड़ा था। उसके पश्चात् श्री 'दिनकर' ने अपनी इन रुबाइयों में उसी प्रकार की निराश भावनाओं को स्थान दिया है। किन्तु जिस प्रकार मधु-प्रेमी कविवर बच्चन ने कहा था,

"इस पार प्रिये, तुम हो मधु है,
उस पार न जाने क्या होगा?"

उसी प्रकार श्री दिनकर ने कहा है–

"अरे मरूँगा कल, तो फिर क्यों
आज नहीं रस-धार बहे?
फूल-फूल पर फिरे न क्यों
कविता तितली-सी दीवानी?"

और फिर वह नारी की मादक-मूर्ति को देखकर पाप-पुण्य की भावना भुलाकर केवल रसपायी बना रह जाना चाहता है। कवि जीवन को पूर्णतया अपनाना

चाहता है, पर साथ ही अपनी क्षणिकता का भी उसे बोध है। बल्कि यों कहें कि क्षणिकता का ज्ञान होने के कारण ही वह जीवन-रस को पूर्णतया ग्रहण करने को उत्सुक हो जाता है और जब वह इस जीवन-रस को पूर्णतया आत्मसात् कर लेगा तब उसे मरण भी एक त्यौहार ही लाता दृष्टिगत होगा। कवि कहता है–

"जीवन ही कल मृत्यु बनेगा,
और मृत्यु ही नव-जीवन,
जीवन-मृत्यु बीच तब क्यों
द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन?
ज्योति-विन्दु चिर नित्य अरे,
तो धूल बनूँ या फूल बनूँ,
जीवन दे मुस्कान जिसे, क्यों–
कहो उसे दे अश्रु मरण?"

इसीलिए वह विरागी बनकर मुक्ति-प्राप्ति की साधना में लीन नहीं होना चाहता, वह जीवन के रसमय पथ को ही चुनता है। जीवन-रस के ग्रहण करने में वह उमरख़य्याम के समान ही आतुर दिखाई पड़ता है, किन्तु जीवन के अन्त की बात भी इस कवि को विचलित नहीं कर पाती:–

"यात्री हूँ अति दूर देश का,
पल भर यहाँ ठहर जाऊँ,
थका हुआ हूँ, सुन्दरता के
साथ बैठ मन बहलाऊँ;
'एक घूँट बस और'—हाय रे
ममता छोड़ चलूँ कैसे?
दूर देश जाना है, लेकिन
यह सुख रोज़ कहाँ पाऊँ?"

कवि इस 'धरणी को रति-अनङ्ग-शासित' रूप में देखता है, इसीलिए सुमन-मण्डप में बैठकर शुष्क अधर को गीला करके कर्म-लोक की श्रान्ति मिटाने के लिए उत्सुक हो जाता है, फिर आगे के पथ की बात बाद में होगी। कविवर बच्चन की 'मधुबाला' के इस गीत से श्री 'दिनकर' की इस भावना को टकराती देखिए–

"कल मुर्झानेवाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं मग्न रहो,

बुलबुल तरु की फुनगी परसे
सन्देश सुनाती यौवन का;
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा !"

उमरख़य्याम की वेदना-वाणी भी सुन लीजिए-

"Alas, that spring should vanish with the rose !
That youths sweet-scented Manuscript should close !
The Nightingale that in the branches sang,
Ah, whence, and whither flown again, who knows !

Ah, love ! could thou and I with Fate conspire
To grasp this sorry scheme of things entire;
Would not we shatter it to bits—and then
Re-mould it nearer to the Heart's Desire ?"

प्रकृति के क्षेत्र में भी कवि अस्थायित्व देखता है और अपने अस्थायित्व की कल्पना करके व्यथित हो उठता है फिर सोचता है कि किस प्रकार इस वह सुखमय जीवन को स्थायित्व दे सकता है ! रवि बाबू का दार्शनिक कवि यह भली भाँति जानता था कि वह इस लोक का एक यात्री है, उसे यहाँ टिकना नहीं है। किन्तु जहाँ उन्हें जाना है, उस गन्तव्य-स्थल पर उनका कोई प्रेमी पलक-पाँवड़े बिछा अनादि काल से उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहा है, यह भी उन्हें विदित है। अतः इस यात्रान्त से उन्हें क्लेश के स्थान पर हर्ष ही होता है—

"यात्री आमि ओरे।
पारबे ना केउ राखते आमाय धरे।
दुःख सुखेर बाँधन सबोइ मिछे,
बाँधा एघर रइबे कोथाय पिछे,
विषय बोझा टाने आमाय निचे,
छिन्न हये छड़िये जाबे पड़े।
यात्री आमि ओरे।
कोन दिनान्ते पौंछाबो कोन घरे
कोन तारिका दीप ज्वाले सेइ खाने,

बातास काँदे कोन कुसुमेर घ्राने,
के गो सेथाय स्निग्ध दु'नयाने,
अनादि काल चाहे आमार तरे ॥"

श्री 'दिनकर' इस लोक का सुख भलीभाँति लेते अवश्य हैं, पर फिर सब कुछ त्यागकर यहाँ से चल देने में भी वे मीन-मेष करना नहीं चाहते—

"बजा शंख कारवाँ चला,
साकी, दे बिदा, चलूँ मैं भी,
कभी-कभी हम गिन पाते हैं
प्रिये ! मीन औ' मेष नहीं।"

किन्तु आगे चलकर कवि जीवन की क्षणिकता से चिन्ताकुल अवश्य दिखाई पड़ता है। वह उस रस का आस्वादन नहीं कर पाता, जिसे यह कहकर उसने सुख के साथ पान किया था—

"दूर देश जाना है, लेकिन
यह सुख रोज कहाँ पाऊँ ?"

अब उसकी वाणी बदल गई है और वह विरक्त की भाँति कह उठता है—

"मन करता है, मत्त वायु बन
फिरूँ, कुञ्ज में नृत्य करूँ,
पर, हूँ विवश हाय, पंकज का
हिमकण हूँ, डोलूँ कैसे ?"

वह नियतिवादी बनकर विवश कुछ भी करने में असमर्थ हो जाता है।

आगे चलकर इन रुबाइयों में लोक-हित की महती कामना भी व्यक्त की गई है। ईश्वर की सर्व-व्यापकता के चित्र भी अङ्कित हैं। पर-हित के पथ में जो क्लेश और दुःख आते हैं, उन्हें पाकर कवि को आनन्द ही प्राप्त होता है, और जीवन में भी उसे स्वाद मिलने लगता है। इस प्रकार प्रेम, वेदना, हर्षोल्लास, विराग और ब्रह्म की व्यापकता एवं लोकोत्तरता की भावनाएँ सरल भाषा में कवि ने जो समय-समय पर लिखी हैं, उन्हीं का द्वन्द्व-गीत में सञ्चय कर दिया है। इसका कोई एक लक्ष्य नहीं है, इसीलिये इस पूरी रचना का एक समन्वित प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ पाता। फिर भी विविध भावों की चित्रमयी झाँकी देखकर पाठक रस-मग्न अवश्य होता रहता है। इसमें कवि-हृदय की सहज भावनाएँ वाणी के परिधान में उतर पड़ी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

———

# दिल्ली

दिल्ली के प्रति समय-समय पर लिखी गई चार कविताओं का संग्रह 'दिल्ली' नाम से प्रस्तुत किया गया है। पहली कविता सन् १९३३ की लिखी गई है। लेखक ने शुरू में ही बता दिया है, "इसकी पृष्ठ भूमि सन् १९२९ की है, जब नई दिल्ली का प्रवेशोत्सव मनाया गया था। उसी वर्ष भगतसिंह पकड़े गए और लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ। सन् १९३० में सत्याग्रह आन्दोलन उठा और देश में विदेशी दमन-चक्र जोरों से चलने लगा। उत्सव और दमन इन्हीं विरोधों पर पहली कविता आधारित है।"

संग्रह की चारों कविताएँ दिल्ली के मानवीकरण द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। लक्ष्यार्थ है, दिल्ली में निवास करनेवाला शासक-वर्ग। एक ओर जनता भूखी और नंगी दशा में कलपती हुई मर रही है और दूसरी ओर शासक-वर्ग हर्ष और उत्सव में खोया हुआ है, जैसे किसी के घाव पर नमक छिड़का जा रहा हो—

> "हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से;
> उधर तुझे भाता है इन पर नमक, हाय, छिड़काना !"

तत्कालीन विदेशी शासकों का नृशंसता का नंगा नाच देखकर कवि में अतीत दिल्ली या इन्द्रप्रस्थ की स्मृति जग उठती है; कला-प्रेमी मुगल-सम्राटों की भी याद आ ही जाती है। वह लखनऊ के नवाब वाजिदअली को भी याद कर लेता है। इस प्रकार पूरी कविता में स्मृति-संचारी का ही प्राधान्य है। पूरी

कविता शोक-पर्यवसायी है। विवशता में बँधे हुए रोप और क्षोभ करुणा की धारा को और गति देते हुए तिरोहित हो जाते हैं। 'जहाँगिर, लखनउ, गली-कूच' आदि प्रयोग भाषा की असमर्थता प्रकट करते हैं।

दूसरी कविता 'दिल्ली और मास्को' है, जो 'सामधेनी' में आ चुकी है और उस पर यथा-स्थान विचार किया जा चुका है। तीसरी कविता है 'हक की पुकार'। यह रचना अगस्त' १९५२ ई० की है, अर्थात् भारत-स्वातन्त्र्य के कई वर्ष बाद की। दिल्लीवालों या शासक-वर्ग को उत्सव - विलास में व्यस्त देख कवि को गाँववालों की दीन-दशा का स्मरण हो आता है और वह सोचता है, कांग्रेस-नेताओं के पूर्व-भाषणों और वर्तमान कर्म में अन्तर की बात। लोक एक कवि से इसी ईमानदारी की अपेक्षा रखता है, जो श्री दिनकर की मुक्त वाणी से व्यक्त हुई है। वे शासकों को सावधान करते हुये उस पूर्व-कथन को सत्य की भूमि पर उतारने की आग्रेह करते हैं, जिसके कारण जनता ने उन्हें अपना नेता स्वीकार किया था, क्योंकि जनता के विश्वास को ध्वस्त करके वे सुख-शय्या पर टिके नहीं रह सकते। वे देखते हैं कि दासता-काल के आदमी की स्थिति में किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं हो पाया है, स्वातन्त्र्य का कोई भी फल जनता को अभी तक नहीं मिल सका है और नेतृ-वृन्द स्वाधीनता के मद में चूर देश-दशा से आँखें फेरकर अपने सुख-संभार में ही उलझा हुआ है। उस आदमी को तो वह भूल ही बैठा, जिसका चित्र संसार के सम्मुख उपस्थित करके वह विदेशी-शोषकों के अत्याचारों को प्रकट किया करता था—

"यह वही आदमी है, जिसकी
पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी
प्रतिमा जग के सम्मुख धरके।

यह वह मनुष्य जिसकी ज्वाला
की ढाल बना तुम लड़ते थे,
जिसकी तावीज पहनकर तुम
शेरों की तरह अकड़ते थे।

क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा
को देख आज भय लगता है?
मर गई कौन सी नस, जिससे
वह दर्द नहीं अब जगता है?"

कवि कहता है कि यह तुम्हारा बनाव-सिंगार झूठा है, इसे छोड़ो और गाँवों की ओर आँखें फेरो। आज तुम्हें देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि तुम इसी देश की सन्तान नहीं हो और न दिल्ली भारत देश की नगरी है, जहाँ देश की उपेक्षा करके स्वर्ग को उतारने का अटूट क्रम बना हुआ है। हमें आज की दिल्लीवाली परी नहीं चाहिए, हमें तो वह माता चाहिए जो बच्चे को भूखा देख उसे छाती से लगाकर रो सके—

"दो परी नहीं, मानवी हमें
माता जो भारत भर की हो;
जो नहीं ख़ूबसूरत प्रतिमा
बेजान संगमरमर की हो।
धीरज से किसी तरह भी जो
बेटों का भाव सँजाए तो,
घर में रोटी हो नहीं अगर
तो लगा वक्ष से रोए तो।"

चौथी रचना है, 'भारत का यह रेशमी नगर'। इसका भी वक्तव्य वही है जो 'हक़ की पुकार' का है, पर इसका स्वर उससे विशेष ज़ोरदार है। गाँवों का विपन्न चित्र इसमें और उभरा हुआ है। साथ ही ठीक उसके विपरीत दिल्ली की रंगीनी का भी छलिया रूप और निखरा हुआ सामने लाया गया है। अन्त में कवि ने जनता के असन्तोष से उत्पन्न भयंकरी क्रान्ति की ओर भी संकेत किया है जिससे शासक-मण्डल पर कुछ गम्भीर प्रभाव पड़ सके—

"तो होश करो दिल्ली के देवो, होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलनेवाली है;
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की साँसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलनेवाली है।"

श्री दिनकर का मूल स्वर यही है राष्ट्रीयतावाला, जिस पर बीच-बीच में कुहासा छाता रहा है। और जहाँ यह कुहासा छँट जाता है, वहाँ कवि अपने उज्वल रूपमें जनता को पूर्ण प्रकाश प्रदान करता ही है।

पहले की दो रचनाएँ पूर्व काव्य-संग्रहों में आ चुकी हैं और अन्तिम दो कृतियाँ नूतन हैं। पूर्व दोनों से अन्तिम दोनों में भावगत और भाषागत अन्तर स्पष्ट है। श्री दिनकर का ध्यान भाव-पक्ष पर जैसा रहा है, भाषा-पक्ष की ओर उतना ध्यान नहीं रह सका है। किन्तु इधर उनका ध्यान भाषा की लाक्षणिकता

की ओर उन्मुख हुआ है, इसीलिए भावों में भी विशेष तीखापन आ गया है। इधर की भाषा बोलचाल की हो रही है जो वाक्सिद्धि की ओर संकेत करती है और कवि के जन-जीवन के निकट आने की सूचना देती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पहले कांग्रेस के सम्मान्य नेता-जन जनता के बीच रहते थे, उसकी दुर्दशा से उनका हृदय प्रभावित होता था और वे विदेशी शासन की भर्त्सना उन किसानों-मज़दूरों की सूखी ठठरी को सामने रखकर किया करते थे। ये देश की उस स्वाधीनता की माँग करते थे, जो सूखी ठठरियों पर मांस मढ़ा करती है और नंगे शरीर को उपयोगी वस्त्र से आवृत करके उसे सभ्य मानव की संज्ञा प्रदान करती है। किन्तु आज जब देश स्वाधीन है, तब वे ही नेता-जन दिल्ली की अट्टालिकाओं में बैठकर आत्म-सुख में विभोर उस जन-समाज को भुला बैठे हैं, जिसकी दशा का नग्न-चित्र उपस्थित करके ये स्वतन्त्रता की माँग करते हुए गर्व का अनुभव किया करते थे। जनता की उपेक्षा करने में उन्होंने विदेशियों के भी कान काट लिए। भारत के दीन श्रमिकों-किसानों की ओर से वे इस प्रकार विमुख हो गए हैं, मानों उनकी ओर देखने में भी इन्हें भय लगता हो। कवि इन नेताओं से पूछता है—

"क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा को
देख आज भय लगता है?
मर गई कौन-सी नस, जिससे
वह दर्द नहीं अब जगता है?"

'इस भूखी प्रतिमा को देख भय लगता है' का अर्थ यह हुआ कि नेताजन 'भूखी प्रतिमा' को देखते तो हैं, किन्तु उसे देखकर भयभीत हो जाते हैं। पर कवि का कथनीय यह नहीं है। कवि का कथनीय यह है कि नेता लोग आज गाँव की सूखी ठठरियों की ओर देखते ही नहीं, मानों इन्हें उनकी ओर देखते भय लग रहा हो। अतः ऊपर की पंक्तियाँ यों होनी चाहिएँ—

"क्या हुआ, वही भूखी प्रतिमा
देखते आज भय लगता है?"

'देख' को 'देखते' कर देने से कवि के हृदय का भाव उतर आता, पर इधर कवि का ध्यान गया ही नहीं।

———

## नीम के पत्ते

'नीम के पत्ते' यह नाम ही अपने वाच्यगत कड़वापन और गुणकारित्व के द्वारा साध्यवसित लक्ष्यार्थ को व्यक्त करता है। अर्थात् जैसे नीम की पत्तियाँ स्वाद में कड़वी होती हैं, किन्तु प्रभाव उनका लाभकर होता है, वैसे ही इस संग्रह की लघु कविताओं में व्यंग्यों की चोट तो तीखी है, किन्तु उनका प्रभाव गुणकारी ही सिद्ध होगा।

इनमें दूसरी कविता 'मैंने कहा, लोग यहाँ तब भी हैं मरते ?' सन् १६४५ की है, जो उत्तर बिहार में भीषण हैज़ा और मलेरिया के प्रकोप के समय लिखी गई थी। शेष कविताएँ भारत की स्वाधीनता के बाद लिखी हुई हैं। रोटी और स्वाधीनता, पहली वर्ष गाँठ (१५ अगस्त, १६४८), सपनों का धुआँ, व्यष्टि, पंचतिक्त, राहु, नेता, जनता कविताएँ व्यंग्य-प्रधान राष्ट्रीय रचनाएँ हैं, जिनमें जन-जीवन की ओर ध्यान देने की बातें नेताओं से कही गई हैं। इस संग्रह में श्री दिनकर एक सच्चे लोक-कवि के रूप में आए हैं। इनका मुख्य ध्येय लोक-जीवन का सुधार है और ऐसा न करके शासक-जन कर्तव्य-च्युत होकर उपहास के पात्र बन रहे हैं। कवि १५ अगस्त १६४८ ई० की स्वतन्त्रता की प्रथम वर्ष-गाँठ की सजावट और ऊपरी दिखावे से खिन्न होकर कहता है—

"ऊपर-ऊपर सब स्वांग, कहीं कुछ नहीं सार,
केवल भाषण की लड़ी, तिरंगे का तोरण।

कुछ से कुछ होने को तो आजादी न मिली,
वह मिली गुलामी की ही नकल बढ़ाने को।

आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई।
फैशन वालों के लिये नया फैशन निकला,
मोटर में बाँधो तीन रंगवाला चिथड़ा
औ' गिनो कि आँखें पड़ती हैं कितनी हम पर,
हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर।"

यही सही मानी में यथार्थता का उद्‌घाटन करनेवाली कविता है। बाहरी दिखावट से शासन आदरणीय नहीं होता, उसका आदर जन-जीवन के उत्कर्ष में निहित होता है। अधिकारियों और व्यापारियों का जो नैतिक पतन सार्वदेशिक विराट् रूप में दिखाई पड़ा, उस पर तीखा व्यंग्य करता हुआ कवि कहता है—

"टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ,
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो।
ईमान बचा कर कहता है, आँखें सब की,
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो दे दो।

\+ + +

कहते हैं, जो थे साधु सरीखे पाक-साफ,
डुबकियाँ लगा वे भी अब पानी पीते हैं।
बिक रही आग के मोल आज हर जिन्स, मगर,
अफसोस, आदमीयत की ही कीमत न रही।

\+ + ×

महँगी आजादी की यह पहली साल-गिरह,
रहने दो; बापू की वर्षी है दूर नहीं।
औ' धूम-धाम से नहीं मनाओगे तुम क्या
कुछ ही वर्षों में दशक चोर बाजारी का?
छल, छद्‌म, कपट का, राजनीति की तिकड़म का
क्रम-क्रम से उत्सव इनका भी होना चहिए।"

सपनों का धुआँ' व्यंग्य-प्रधान नावक का तीर ही है। कवि 'चाँद' से कहता है—

"दूर ही रहो अय चाँद आदमी बड़े-बड़े
आगे-पीछे भी नहीं सोचने पाएँगे।
पीयूष तुम्हारे मरने का कारण होगा,
प्याले पर धर कर तुम्हें चाट ही जाएँगे।"

अन्योक्तिगत वक्रोक्ति में काव्यानन्द छलका पड़ता है। 'पंचतिक्त' नामक कविता भी अपनी 'वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति' में पूर्ण होकर कर्मवाद का समर्थन करती है। नेता का परिचय देता हुआ कवि जनता से कहता है—

"नेता का अब नाम नहीं ले,
अन्धेपन से काम नहीं ले,
हवा देश की बदल गई है,
चाँद और सूरज में भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं।
और जानता नहीं अभागे,"

मन्दिर का देवता चोरबाजारी में पकड़ा जाता है—

"फूल इसे पहनायेगा तू?
अपना हाथ घिनायेगा तू?"

वास्तव में इस संग्रह का नाम सार्थक है। दो तीन कविताएँ जो स्व-धर्म में नीम की पत्तियाँ नहीं कही जायँगी, वे भी 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' की भाँति नीम की पत्तियाँ ही हो गई हैं।

इस प्रकार काफी अर्से के बाद दिनकर के कवि का स्व-रूप पुनः दिखाई पड़ा है। श्री दिनकर जन्मजात राष्ट्र कवि हैं। 'रेणुका' से 'नीम के पत्ते' तक देख जाइए, जहाँ कहीं काव्य का देदीप्यमान् स्वरूप दिखाई पड़ेगा, वहाँ श्री दिनकर का वही जन्मजात राष्ट्र-कवि शंख फूँकता दिखाई देगा। हिन्दी के काव्य-प्रेमियों को श्री दिनकर से आरम्भ से ही यही आशा रही है और इधर की उनकी कृतियों को देखकर वह आशा विशेष रूप से पल्लवित और पुष्पित होगी, ऐसा विश्वास है।

———

# नील कुसुम

हिन्दी-काव्य-जगत् में खड़ी बोली के प्रतिष्ठित होने के बाद हिन्दी-कवियों का सम्पर्क अंग्रेज़ी कवियों से उत्तरोत्तर बढ़ता गया। विशेषत: अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक कवियों ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया। यही स्थिति बँगला की भी थी। रवि ठाकुर ने स्वीकार किया था कि पहले प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि शेली (P. B. Shelley) उन्हें विशेष प्रिय रहा था। हिन्दी-कविता का पूर्वरूप अतिव्यवहृत होकर नूतन आकर्षण से विहीन हो गया था, विषय, अभिव्यञ्जना-प्रणाली, आलङ्कारिक पद-योजनाएँ अति-प्रयुक्त होने के कारण नूतनता खो चुकी थीं। अत: नवागत कवियों में उसके प्रति 'अतिपरिचयादवज्ञा' उत्पन्न हुई। फिर नवीनता की खोज होने लगी। किसी ऐसी चीज़ की जो अब तक हिन्दी के लिए अपरिचित रही हो, अर्थात् ऐसी कविता की जाय जिसकी भाषा, विषय-वस्तु, अभिव्यञ्जन-कौशल सब में एक अजनबीपन या अनोखापन हो। जहाँ अनोखापन होगा, वहाँ लोगों की दृष्टि अपने आप चली आएगी, पूर्वपरिचित सत्यों को त्यागकर। अत: शब्द-रूपात्मक भाषा बदली, कहने का ढंग बदला, वर्ण्य-विषय बदले। इस खोज-दौड़ में कोई पश्चिम गया, कोई पूर्व और कोई सुदूर पूर्व। अर्थात् किसी ने पश्चिम के अभिव्यञ्जनावाद (expressionism) को अपनाया, किसी ने बँगला के नये कवियों से परिचय बढ़ाया और किसी ने नये रूप में ध्वनि का आश्रय लिया, जिस ध्वनि को कविगण प्रायः भूल बैठे थे।

प्रतिभा-संपन्न कवि जाने-अनजाने वहीं पहुँचे, जिस जगह पहुँचकर आनन्दवर्द्धन ने कहा था—

"उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥"

इसका सम्बन्ध भाषा से ही था। विषय-वस्तुएँ भी कुछ गिनी-चुनी ही ली जाती थीं, अतः वे भी परिवर्तन-सापेक्ष थीं। इधर रूढ़ि-बद्ध लोक-जीवन को देखना भी नूतनता के उपासकों को असह्य था, अतः विविक्त प्रकृति के अतिरिक्त अन्यत्र जाते भी कहाँ? नए पाठकों ने नई कविताओं को चाव से अपनाया। किन्तु लोक से दूरी वा लोकासंपृक्तत्व के कारण जनता को उसमें कुछ देर तक रमानेवाली चीज़ मिलती दिखाई नहीं दी। प्राचीन आचार्यों ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् स्थिर किया था—

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।'

सबके समन्वयाभाव के कारण ही आज तक हिन्दी में 'वादों' का ताँता टूटता नहीं दिखाई पड़ता। किसी 'वाद' के चलने पर बहुतों का यह समझ लेना कि उस 'वाद' की सीमा में रहकर ही कविता करनी बड़ी बात है, हिन्दी कविता के लिए बराबर अहितकर रहा है, और है। किन्तु मर्मज्ञ जन तो समझकर बतलाते ही रहे हैं—

"अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥"

नित्य नूतनता को धारण करना प्रकृति का चिरन्तन नियम है। काव्य-जगत् में भी उन पत्तियों का परित्याग श्रेयस्कर है जो तरुवर के रक्षण में अक्षम हो जायँ। नव-पल्लवों से रक्षण के साथ ही साथ तरुवर की सौंदर्य-वृद्धि भी हो जाती है, उसमें नूतन आकर्षण आ जाता है। किन्तु शाखाओं-प्रशाखाओं को काटकर स्थाणु को जिस प्रकार तरुवर की संज्ञा देना भोंड़ापन कहा जायगा, उसी प्रकार प्रतिभाविहीन जनों द्वारा लिखी गई असम्बद्ध निरर्थक शब्दावली कविता नहीं कही जायगी। यह सच है कि बच्चों को चित्र विशेष प्रिय होते हैं, वे चित्रत्व या विचित्रता के उपासक होते हैं। इसी प्रकार काव्याभ्यासार्थियों में भी पहले चित्र-प्रियता होती है, किन्तु जब उनका अभ्यास पूर्ण हो जाता है तब उनकी वाणी सच्चे काव्य का सर्जन करने लगती है, उनका बचपन दूर हो जाता है। नए युग की अवतारणा के साथ नूतनता-प्रेमी प्रतिभा-सम्पन्न कवियों द्वारा नूतन अभिव्यक्तियाँ भी अवतीर्ण होती हैं। ऐसी नूतन अभिव्यक्तियाँ

सदा से श्लाघ्य रही हैं और आगे भी रहती रहेंगी। किन्तु ऊटपटांग उक्तियों को काव्य नाम देना मर्मज्ञानहीनता का ही परिचय देना कहा जायगा। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए कहा है—

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।'

जल-प्रवाह के निर्मल हो जाने पर जैसे उसमें पारदर्शिता सहजोपलब्ध हो जाती है वैसे ही नूतन काव्याभ्यासियों की वाणी अभ्यास करते-करते जब शब्दपाक प्राप्त कर लेती है तभी वे सिद्ध-सारस्वतीक कवि कहलाने के अधिकारी होते हैं। पहले के कवि जब काव्य को चमत्कारपूर्ण बनानेका प्रयत्न करते थे तब उनमें शब्द-चित्रों या वाच्यचित्रों की प्रधानता रहती थी और आज जो विचित्र उक्तियों का कौशल प्रतिभाविहीन जनों द्वारा अथवा कुछेक प्रतिभासम्पन्न जनों द्वारा दिखाया जा रहा है उसे भी चित्रकाव्य की ही श्रेणी में समझना चाहिए। आजके अनेक प्रयोगवादियों की रचनाएँ आचार्य आनन्दवर्धन की इस कसौटी पर कसकर परीक्षित हो सकती हैं—

'ततोऽन्यद्रस भावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्ति शून्यं च काव्यं केवलं वाच्यवाचक - वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्य-प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।··· तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्।"

कविताके अभिव्यक्ति-प्रकार और विषय-वस्तु कालानुसार बदलते रहते हैं। काव्य के विषयों की कोई इयत्ता नहीं होती, और उसी प्रकार अभिव्यक्ति की रीतियाँ तीन या दस ही नहीं असंख्य होती हैं। जैसे प्रकृति अनन्त है, वैसे ही अभिव्यंजनाएँ, रीतियाँ और कालावस्थाएँ भी अनन्त हैं, अतः कवि इन सब का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकता है। किन्तु काव्य जिस सहजगुण से युक्त होने पर काव्य कहा जाता है, उसकी उपेक्षा करके चाहे कितनी ही विचित्रताओं से युक्त पदावलियाँ जोड़ी जायँ, उन्हें काव्य नहीं कहा जायगा। कविता में तो रसभावादितात्पर्यपर्यालोचना होनी ही चाहिए।

श्रीदिनकर की इधर की कविताओं का नूतन संग्रह 'नीलकुसुम' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका में कवि ने हिन्दी की नई कविताओं का यत्किंचित् परिचय भी दिया है। वह कहता है—

"नए कवि, व्याजान्तर से इसी बात का प्रयोग कर रहे हैं कि कितने ऐसे उपकरण

हैं, जिन्हें छोड़कर भी कविता कविता रह जायगी। सिद्ध है कि कविता बिना छन्द के भी हो सकती है; इसलिए, छन्द त्यक्त हो रहे हैं। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दों के जोड़ में नहीं है; इसलिए, कोमलता की परम्परा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नहीं किये जा सकते; इसलिए, अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता में भरते जा रहे हैं।······। किन्तु, यह नवागम का रोर भी हो सकता है। सम्भव है, बाढ़ में बहकर ऐसे लोग भी आ गए हों, जो कवि नहीं हैं। किन्तु भविष्य पर जिनके पंजों की छाप पड़नेवाली है, वे कवि-पुङ्गव भी इसी झुण्ड में छिपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि वह उन्हें भीड़ से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढ़े की व्यवस्था करे।"

इसी सिलसिले में उन्होंने यह भी तर्क पेश किया है कि 'प्रयोगवाद के नाम से जो कविताएँ आज सामने आ रही हैं, उन्हें ईलियट आदि अंग्रेजी-कवियों का अन्धानुकरण नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अनुकरण केवल दो चार या दस आदमी कर सकते हैं, पूरी की पूरी पीढ़ी अनुकरण के रोग से ग्रसित हो जाय यह बात मानने की नहीं।" अतः प्रयोगवादियों का साथ न देना इस कवि को बुद्धिहीनता ही प्रतीत हुई और उस रोर में अपना स्वर न मिलाना उसे जँचा नहीं, अतः वह उस रोर में स्वयं भी शामिल हो गया। निष्कर्ष यह निकला कि अपनी अन्तःप्रेरणा से कवि की प्रायोगिक वाणी का स्फुरण नहीं हुआ, सब जैसा करते हैं, वैसा ही स्वयं भी करना चाहिए, यही सोचकर उसने स्वागतार्थ नीलकुसुम बिखेर दिए। तो नीलकुसुम एक अनुकृत चीज हुई, स्वोद्भूत नहीं। जो हो, कवि के कथनानुसार ये उसकी नए ढंग की कविताएँ हैं।

प्रयोगात्मक कविताएँ लिखनेवाले आज कविता के शीर्षक और विषय के उपन्यसन-प्रकार, दोनों ही को चमत्कारपूर्ण बनाने के यत्न में हैं। इन विचित्रताओं की सृष्टि द्वारा वे हिन्दी-पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। पश्चिम में काव्य-विषयक अनेकानेक विचित्र विचारों को जन्म देकर समय-समय पर तदनुकूल वादों की सृष्टि होती रही है। हमारे यहाँ भी समय-समय पर ऐसे वाद जन्म लेते रहे हैं और आचार्य-जन कविता-धारा का पर्यालोचन करके तदनुकूल दृष्टि से पृथक्-पृथक् वादों का समर्थन करते रहे हैं। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अनुमिति आदि 'वाद' ही रहे हैं। आज हिन्दी में यदि कोई नूतन शैली की कविता निकली तो झट उसका एक नया नामकरण अनिवार्य समझ लिया जाता है। इसी प्रकार अभिव्यञ्जना की नई सरणि निकलते देख और उसके लिए कोई उपयुक्त नाम न पाकर उसे 'प्रयोगवाद' नाम दे दिया गया,

जो देखने में ही असमर्थ और अक्षम है। आज के नए कवियों में कुछ ने इलियट ( Thomas Stearns ), हौपकिन्स ( Gerard Manley Hopkins ), मैसफील्ड ( John Masefield ), ब्रुक ( Rupert Brooke ), मोनरो ( Harold Monro ), एडवर्ड ( Sir Edward ) आदि से प्रभाव ग्रहण अवश्य किया है। सभी देशों की सामाजिक स्थिति में अंशतः साम्य तो होता ही है, किन्तु पूर्णतया किसी प्रवृत्ति विशेष की पृष्ठ-भूमि का वर्तमान होना तभी कहा जा सकता है जब कवि-जनों द्वारा उसमें घुल-मिलकर तदनुकूल भावोद्गार व्यक्त करने पर वे जनता द्वारा गृहीत हो जायँ। इस अर्थ में कुछ कविताएँ प्रायोगिक कही जायँगी, किन्तु कुछ कविताएँ सचमुच ही परिस्थितियों की अनुभूति की अभिव्यक्तियाँ होकर उठी हैं। ऐसी कविताओं में लाक्षणिकता विशेष उभर कर सामने आई है, कहीं-कहीं व्यंजनाएँ भी बड़ी मार्मिकता से उतरी हैं। कुछ कवि जन 'समासोक्ति' में ही विशेष रुचि दिखाते दिखाई पड़ रहे हैं। इस युग-प्रवाह से पुराने कविवर्य अब वैसे ही प्रभावित दिखाई पड़ रहे हैं, जैसे श्री मैथिलीशरण गुप्त कभी रहस्यवाद और छायावाद के झोंके में पड़ गए थे। किन्तु इस प्रकार अपने को युगानुकूल बना लेना कवि की उदार-हृदयता का ही द्योतक है। श्री दिनकर ने भी हिन्दी की नूतन काव्य-प्रणाली को अपनाकर अपनी उदार-हृदयता और लचीली मनोवृत्ति का ही ज्ञापन किया हैं। वे काव्य-संग्रह के आरम्भ में इन कविताओं का सूत्रात्मक परिचय उपस्थित करते हुए कहते हैं—

> "वर्षा का मौसम गया, बाढ़ भी साथ गयी,
> जो बचा शेष, वह स्वच्छ नीर का सोता है।
> अब चाँद और तारे इसमें निज को देखें,
> आसिन का जल बिलकुल दर्पण-सा होता हैं।"

इन पंक्तियों द्वारा यही प्रकट होता है कि आधुनिक प्रायोगिक रचनाओं की बाढ़ वाले प्रवाह से यह धारा अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, क्योंकि इसमें 'आसिन' का जल है, वर्षा का नहीं। 'नीलकुसुम' की रचनाएँ अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट हैं; कवि के भाव और विचार उभरकर सामने आए हैं, उनमें पंकिलता नहीं है। कवि ने अपने सुचिन्तित विचार द्वारा यह कहा है कि स्वप्न और सत्य तथा धरती और आकाश परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, किसी एक पक्ष की उपेक्षा करके अपर पक्ष का ही समर्थन भयङ्कर भूल होती है। इस सत्य को अनेक कविताओं में प्रकट किया गया है। आज का स्वप्न ही कल सत्य बनकर प्रतिष्ठित

होता है, स्वप्न ही सत्य की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करता है। इसी आधार पर कवि की रागिनी 'चाँद' से कहती है–

"स्वर्ग के सम्राट् को जाकर खबर कर दे,
'रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं ये;
रोकिए जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।'"

किन्तु कर्मयोग की प्रतिष्ठा पर कवि ने विशेष जोर दिया है। स्वप्न-लोक में विचरण करना आनन्ददायक है, पर उसी में सत्य की सत्ता को विस्मृत कर देना वरेण्य नहीं। अत: कविता धरती की ही बात करे तो अच्छा—

"बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिन्ता नहीं होती।
बड़ा वह आदमी जो जिंदगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोए बिना तन से निकलती है।"

सत्य और स्वप्न

यही सन्देश 'भावी पीढ़ी' को दिया गया है। 'तुम क्या लिखते हो' में कवि ने भूमि पर ध्यान देने की बात कहकर उन कवियों को ज़ोरदार शब्दों में फटकारा है, जो गीतों की अस्पष्टता भरने को ही कला की चरम सार्थकता मानते हैं–

"सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परस जलाशय के तल को;
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जानबूझ गदला करते अपने जल को।"

कवि को आडम्बरहीन मुक्त जीवन प्रिय है, जो भारत को सदा से प्रिय रहा है। लोमश ऋषि के दृष्टान्त को प्रस्तुत करके 'गृह-रचना' शीर्षक कविता में यही बात कही गई। यह रचना संग्रह की उत्तम रचनाओं में से एक है।

कुछेक रचनाएँ समाज की पृष्ठ-भूमि पर प्रस्तुत की गई हैं। 'स्वर्ग के दीपक' में अभिजात-वर्ग को मानवता की शिक्षा, 'काँटों का गीत' में पूँजीपतियों को चेतावनी, 'नींव का हाहाकार' में पूँजीवाद का विरोध और समाजवाद का समर्थन, 'भूदान' में श्री बिनोवा भावे की आदर्श-भावना की प्रशस्ति, 'कवि और समाज' में कवि का समाज के प्रति कर्तव्य और 'नग्नता' में आधुनिका नारी को शील की शिक्षा दी गई है। 'अर्धनारीश्वर' में संहारोन्मुख भौतिक

विज्ञान को तिलाञ्जलि देकर हृदय-पक्ष के विकास पर जोर दिया गया है, और इसके लिए भगवान् शङ्कर से प्रार्थना की गई है—

"लेशमात्र रस नहीं, हृदय की पपड़ी फूट रही है,
मानव का सर्वस्व निरंकुश मेधा लूट रही है।
रचो, रचो शाद्वल, मनुष्य निज में हरीतिमा पाए,
उपजाओ अश्वत्थ, क्लान्त नर जहाँ तनिक सुस्ताए।"

कुछेक रचनाओं में दर्शन की ओर भी कवि का झुकाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, आरंभिक जिज्ञासा के रूप में। संग्रह के अन्त में 'हिमालय का संदेश' नामक एक रूपक कवि ने दिया है। इसमें समाज की दुरवस्था, हिंसा का त्याग, रोटी की समस्या को प्राथमिकता और उसके साथ ही मानसिक आज़ादी की माँग की गई है। युद्ध को मानवता का शत्रु कहा गया है और राष्ट्रवाद का पोषक। इस प्रकार जाति, राष्ट्र, व्यष्टि आदि को तोड़कर अखण्ड मानवता की प्रतिष्ठा की पुकार कवि ने की है। अन्त में धर्म और श्रद्धा के आधान द्वारा ही अखण्ड मानवता की प्रतिष्ठा की संभावना व्यक्त की गई है।

## भाषा

भावों की सुलझन के साथ ही इस संग्रह की भाषा भी निखरी हुई है। पहले से कवि की भाषा अब अधिक जोरदार लाक्षणिक और व्यंजक हो गई है। ऐसी मँजी हुई भाषा कवि की अन्य कृतियों में नहीं आ पाई है, न कहीं फारसी के अप्रयुक्त शब्दों और न ही संस्कृत के अल्प-प्रयुक्त शब्दों को लाने का दुराग्रह दिखाई पड़ता है, न प्रथग्यत्न निर्वर्त्य अलंकार लाने का प्रयत्न ही पाया जाता है। शाब्दिक काठिन्य का स्थान विशेषतया वचन-वक्रता ने ले लिया है। इस सहज पथ पर चलकर कवि आगे और उत्तम रचनाएँ प्रस्तुत करने में समर्थ होगा, यह आशा स्वभावतः ही बँध जाती है।

———

# बापू

हृदय का यह सहज स्वभाव है कि जिसे वह अपनी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और स्नेह समर्पित करता है, उससे मिलकर वह आह्लादित, उल्लसित और मुग्ध होता है किन्तु उससे दूर होकर वह खिन्न, व्यथित और विषण्ण हो जाता है। खेद, व्यथा और विषाद की मात्रा दूरता के अनुपात में ही न्यूनाधिक हुआ करती है। जिसे हृदय नहीं चाहता, जिससे वह कारणवश विमुख रहता है उससे दूरत्व के न्यूनाधिक मात्रानुसार उसका हर्ष भी उसी अनुपात में रहता और उसके सान्निध्य में वह व्यथित हो उठता है। गोस्वामी तुलसीदास ने साधु और असाधु के अन्तर को बड़े ही सटीक रूप में सूत्र-बद्ध कर दिया है—

> "मिलत एक दुख दारुन देहीं।
> बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥"

प्रेमास्पद के व्यक्तित्व के ही अनुसार तज्जन्य हर्ष और शोक की मात्रा भी हुआ करती है। हर्ष की दशा में हृदय बहिर्मुख और विषाद की दशा में अन्तर्मुख हो जाता है। इसीलिये विषाद की वाणी हृदय की प्रतिवेशिनी होती है। जहाँ श्रद्धास्पद किंवा प्रेमास्पद के संयोग की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती वहाँ वियोग-जन्य विषाद करुणा का रूप धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में कवि हृदय से निकले हुए उद्‌गार को शोक गीत ( Elegy ) की संज्ञा दी जाती है।

काव्य की प्रभविष्णुता आलम्बन की व्यक्तित्वानुसारिणी होती है। काव्य की प्रभविष्णुता-वृद्धि को ही दृष्टि में रखकर प्राचीनों ने कहा था—

> " ..........तत्रैको नायकः सुरः।
> सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
> एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा॥

\+ \+ \+

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।"

यदि काव्य का आलम्बन लोक-हृदय का आलम्बन हो तो काव्य लोक-काव्य हो जाता है और उसमें समर्पकत्वगुण विशेष रूप में उतर आता है। इसी बात को ध्यान में रखकर गुप्त जी ने कहा था—

"राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है ॥"

भारतीय साहित्य-परम्परा पाठक अथवा दर्शक को शोक-पर्यवसायी काव्य देने के विरुद्ध रही है। यहाँ जीवन की चरम परिणति आनन्द में देखी जाती रही है। इसीलिये भारतीय साहित्य में शोक-पर्यवसायी रचनाओं का सर्वथा अभाव रहा है। किन्तु पश्चिमी जगत् ने शोक-पर्यवसायी काव्यों को आनन्द-पर्यवसायी काव्यों से ऊँचा स्थान प्रदान किया है। अतः वहाँ शोकद रचना की परम्परा बलवती होती गई। वास्तव में किसी प्रिय व्यक्ति के देहावसान पर सामान्य जनों में शोकोद्भूति स्वाभाविक है। भारत की दार्शनिक दृष्टि ने शोक-काव्य को संश्रय नहीं दिया, इसलिये हिन्दी-काव्य क्षेत्र में शोक-गीतों का आज भी अभाव ही है। भारतीयों की लोक-हितैषी दृष्टि ने जिन बातों का वर्जन किया था, वे ही पश्चिम के प्रभाव से आज भारतीय साहित्य के लिये सर्वथा नई होकर जब लाई जाती हैं तब उन्हें नूतन प्रयोग या नवीनता कहकर विशेष महत्त्व भी प्रदान किया जाने लगता है। यों तो गोस्वामी तुलसीदास जैसे वीतराग महा-पुरुष की वाणी भी तब मौन नहीं रह सकी थी जब उनके मित्र टोडर का देहा-वसान हो गया था और दो-चार दोहे अकस्मात् फूट ही पड़े थे।

भारत के महान् नेता महात्मा गांधी की मृत्यु समग्र राष्ट्र के लिये शोक का विषय बन गई थी अपनी असहजता के कारण विशेष रूप से। सहसा सहृदयों के हृदय से आर्तवाणी अरोक फूट पड़ी थी।

दिनकर जो एक मनीषी कवि हैं, उनकी वाणी में हृदय उतरता है। उनकी 'बापू' नाम्नी पुस्तिका ने शोक-काव्य के रूप में उस समय सबसे अधिक सम्मान प्राप्त किया, इतर शोक-काव्यों में। किंतु इनकी बापू रचना केवल शोक-काव्य ही नहीं है, अपितु वह एक गुण-कीर्तन और स्तवन भी है। 'बापू' नाम्नी पुस्तिका का जब प्रथम संस्करण हुआ था, तब 'बापू' का देहावसान नहीं हुआ था। द्वितीय संस्करण के पूर्व ही गांधी जी का परलोक-वास हो गया। अतः उस समय जो शोकपरक रचना प्रस्तुत हुई, उसे भी 'बापू' के द्वितीय संस्करण में सम्मिलित कर लिया गया।

'दिनकर' जी की प्रतिभा 'सहजा' रही है। प्रारंभ में ही उनकी वाणी काव्य के रूप में उतर पड़ी थी। 'सहजा' मैंने इसलिये लिखा कि कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो श्रम से भी ख्याति-अर्जन में समर्थ होते हैं। आचार्य दण्डी ने कहा है–

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥"

किन्तु यह भी सच है कि कृतश्रम कवि की वाणी स्पष्टतः उसके दोषों का उद्घाटन कर देती है। प्रतिभासंपन्न कवि शास्त्रीय दोषों को अपनी प्रतिभा से ढक देता है–

"अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ॥"

अतः इस कसौटी पर देखने पर भी दिनकर जी के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता। वाणी उनके सरल कवि-हृदय से निःसृत हो पड़ी है। अपने मन की बात प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

"संसार पूजता जिन्हें तिलक,
रोली, फूलों की हारों से,
मैं उन्हें पूजता आया हूँ,
बापू, अब तक अंगारों से।

अंगार हार उनका, जिनकी
सुन हाँक समय रुक जाता है,
आदेश जिधर को देते हैं
इतिहास उधर झुक जाता है।"

अन्त में वे गान्धीजी को ऐसे पुरुषों से सर्वथा पृथक् बतलाते हुए कहते हैं कि मेरी उन वीरों की ज्वालाओं से पूजा करने वाली लेखनी तेरे सम्मुख आकर छुईमुई हो जाती हैं। जो देश-भक्त वीर महापुरुष अपने अन्तिम अस्त्र युद्ध द्वारा शांति-सृष्टि में विश्वास करते थे, गांधी जो उन सबसे परे लोकोत्तर पुरुष हैं—

"बापू तू वह कुछ नहीं, जिसे
ज्वालाएँ घेरे चलती हैं,
बापू तू वह कुछ नहीं, दिशाएँ
जिसको देख दहलती हैं।

तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के
सहज प्रेम का अधिकारी,
दृग में उँडेल कर सहज शील
देखती तुझे दुनिया सारी।"

गांधी जी की नेतृत्व शक्ति और उज्वल कर्म की प्रतीक कवि ने उस एकाकी किरण को माना है जो अन्धकार के व्यूह में प्रवेश करके उसे दूर करने का सतत प्रयास करती है—

"पर हो अधीर मत मानवते !
पर हो अधीर मत मेरे मन !
है जूझ रही इस व्यूह बीच
धरती की कोमल एक किरण।"

यहाँ कवि ने साध्यवसान रूपक द्वारा गान्धी जी के स्वरूप को शब्दचित्र में उतार दिया है। आगे कवि ने उन्हें विशाल छायादानी वृक्ष, जलदायी मेघ, पीयूष-वर्षी चन्द्र आदि कहा है और समदर्शी सन्त के रूप में उनका भावपूर्ण गुण-गान किया है।

इसका पूर्वभाग गांधीजी की नोआखाली-यात्रा को लेकर समाप्त होता है और दूसरा भाग शुद्ध शोक-काव्य ( Elegy ) है। अन्त में, गांधीजी का अन्त जिस नृशंसता के हाथों हुआ, उसकी विगर्हणा की गई है और ऐसे जघन्य कृत्य को मानवता का और अन्त में हिन्दू-जाति का कलंक कहा गया है। व्यथित कवि-हृदय मर्माहत होकर ऐसी संभावनाएँ भी व्यक्त करता है—

"टल जाँय न पीड़ित मेघ कहीं
अन्यत्र तुम्हारा छोड़ व्योम;
वध-ग्रसित तुम्हारे अम्बर में
उगना न छोड़ दें सूर्य-सोम।"

संपूर्ण रूप में यह कृति पाषाण-हृदय को भी विचलित करने वाली और करुणा की स्रोतस्विनी है।

इस कृति में दिनकर जी की भाषा विशेष लाक्षणिक और अभिव्यंजना-प्रधान एवं आलंकारिक है; यह उनकी कवि-शक्ति का विकास है। शब्द-चित्र स्थान-स्थान पर अपनी शोभा से दीप्त एवं अनुकूल प्रभावोत्पादन में पूर्ण समर्थ हैं। यह दिनकर जी की उत्तम काव्य-कृतियों में से एक है।

———

# प्रबन्ध-काव्य

# कुरुक्षेत्र

## एक विचार काव्य

कवि श्री दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' आधुनिक खड़ी बोली के प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों में गिना जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् युद्ध और शान्ति के प्रश्न ने विश्व के सभी राष्ट्रों को नए सिरे से सोचने को, विचार करने को, विवश किया है। श्रीदिनकर भी एक अर्से से इस प्रश्न पर विचार करते रहे हैं, अर्थात् सन् १९४१ से जब कि उन्होंने 'कलिङ्ग-विजय' नाम की कविता प्रस्तुत की थी। 'कुरुक्षेत्र' की रचना के विषय में निवेदन प्रस्तुत करते हुए लेखक कहता है, "कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत का दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसङ्ग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।"

इस युग का प्रश्न यह है कि युद्ध होना चाहिए अथवा सामूहिक रूप में इसका बहिष्कार कर देना चाहिए। यदि युद्ध होता है तो उसका दायित्व किस पर माना जायगा, जो अपने छल-प्रपंच द्वारा युद्ध के लिए पीड़ितों को बाध्य कर देते हैं अथवा उन पर जो अनीति के प्रतीकारार्थ शस्त्र का सहारा लेने को बाध्य हो जाते हैं? महाभारत-काल में दुर्योधन ने पाण्डवों का सर्वस्व अपने छल-

प्रपञ्च द्वारा अपहृत कर लिया था और जब वह समझाने-बुझाने पर भी किसी भाँति उनका अधिकार देने को प्रस्तुत नहीं हुआ, तब पाण्डवों को शस्त्र के आश्रय से व्यतिरिक्त अन्य कोई साधन समस्या के समाधानार्थ नहीं दिखाई पड़ा। युद्ध हुआ और वह भी साधारण नहीं, लोक-संहारक। उस सर्व-संहारक युद्ध का दायी कौन माना जायगा? इसी प्रश्न पर कवि ने कुरुक्षेत्र में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

## ऐतिहासिक आधार

महाभारत के शान्ति पर्व के पूर्व स्त्री-पर्व में धर्मराज युधिष्ठिर से धृतराष्ट्र ने कहा था कि हे धर्मराज, इस युद्ध में जितने वीर मरे हैं, उनमें कितने ही ऐसे हैं जिनका श्राद्ध-कर्म करने वाला कोई नहीं है, जिनका यहाँ अग्नि-होत्र नहीं है। कितने ही वीरों के शरीरों को गीदड़, गृद्ध आदि ने नोच-नोचकर खा डाला है। किन्तु यदि इनका दाह-कर्म सम्पन्न हो जाय तो वे भी सङ्कर्षण नामक लोकों के अधिकारी हो जाएँगे। अतः अनाथ अथवा सनाथ जितने भी योद्धा मृत पड़े हैं, उन सबका दाह-कर्म विधिवत् हो जाना चाहिए। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके युधिष्ठिर ने कुछ प्रमुख वीरों को अलग-अलग चिताओं में तथा शेष को एक ही स्थान पर जुटाकर महती चिता का निर्माण कराकर उसमें ही दाह-कर्म शास्त्रानुसार सम्पन्न किया था। गंगा-तट पर स्त्रियों तथा पुरुषों ने मृतात्माओं को तिलाञ्जलि दी। शान्ति-पर्व के आरम्भ में नारद ने धर्मराज से पूछा कि हे युधिष्ठिर, तुमने अपने बाहु-बल और श्रीकृष्ण की कृपा से इस लोक-भयङ्कर युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। अब इस विशाल वैभव के अधिकारी बनकर तुम्हें किसी प्रकार का शोक तो नहीं है? युधिष्ठिर ने कहा था—

वयं तु लोभान्मोहाच्च
दम्भमानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता
राज्य-लाभ-बुभुत्सया ॥

\+ + +

सम्परित्यज्य जीवामो
हीनार्थ हतबान्धवाः ॥
त्रैलोकस्यापि राज्येन
नास्माकं कश्चित्प्रहर्षयेत्।

बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा
पृथिव्यां विजयैषिणः ॥

कहने का तात्पर्य यह कि इतने बड़े लोक-संहारकारी युद्ध के पश्चात् अपने बन्धु-बान्धवों तथा अन्यान्य वीरों का विनाश देखकर और उनकी स्त्रियों का करुण विलाप सुनकर धर्म-प्राण युधिष्ठिर का हृदय अगाध शोक से भर उठा था। उन्होंने युद्ध के पूर्व इस प्रकार के सामूहिक विनाश की कल्पना तक नहीं की थी, अन्यथा वे इस युद्ध में प्रवृत्त ही नहीं होते। जब उन्हें यह विदित हुआ था कि महारथी कर्ण उन्हीं का भाई था तब तो वे और भी शोक-सन्तप्त हो उठे थे। उन्होंने अर्जुन से कहा था कि तुम्हीं अब पृथ्वी पर शासन करो। मैं तो मुनियों की वृत्ति धारण करके वन में तपस्या के लिए चला जाऊँगा, क्योंकि कौरव हमारे आत्मीय थे, उन्हें मार कर हमने आत्म-हत्या कर ली है। हम मांस-लोलुप कुत्तों की तरह राज्य-लोभ में पड़कर इस महती विपत्ति में आ फँसे हैं। आज हमें यह विदित हो रहा है कि न हमने कौरवों को जीता और न वे हमें जीत सके। अब मुझे राज्य-सुख की लेश मात्र भी कामना नहीं है।

धर्मराज की इस त्याग-भावना से दुःखी होकर अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और भीम सबने उन्हें समझाया। द्रौपदी ने यहाँ तक कहा था कि नपुंसक मनुष्य पृथ्वी अथवा धन का भोग नहीं कर सकता। सबके साथ मैत्री, दान, अध्ययन और तप ये तो ब्राह्मण के कर्म हैं, क्षत्रिय के नहीं। दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों की रक्षा करना और युद्ध ये ही क्षत्रिय-कर्म हैं। जिसमें क्षमा और क्रोध, दान और ग्रहण, भय और अभय, तथा निग्रह और अनुग्रह एक साथ रहते हैं, वही धर्मात्मा कहलाता है। आपने पृथ्वी का राज्य युद्ध द्वारा प्राप्त किया है, भीख माँगकर नहीं। आप मदोन्मत्त गजराजों की भाँति अपने भाइयों को देखकर प्रसन्न और तुष्ट क्यों नहीं होते? माता कुन्ती ने मुझसे कहा था कि युद्ध में संसार के सभी वीरों को जीतकर युधिष्ठिर तुझे सुखी रखेंगे। क्या आप उनकी बात को असत्य सिद्ध करेंगे। आपके इस पागलपन से आपके भाई भी पागल हो रहे हैं। यदि मैं आप पाँचों भाइयों की पत्नी न होकर किसी एक की हो पत्नी होती, तो मेरे सुख की सीमा ही न होती, किन्तु आज आपके ऐसे व्यवहार से मुझे अपार व्यथा हो रही है। अतः आप मेरी बात को ठुकराइये नहीं।

किन्तु इन उपदेशों का, अनुरोध का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब उन्होंने अपने शोक का हाल द्वैपायन व्यास से कहा। व्यासदेव ने उन्हें कर्म-योग की शिक्षा दी और क्षत्रिय-धर्म का उपदेश करते हुए कहा कि बुद्धि-भ्रम और

अनिष्ट-प्राप्ति इन्हीं दो कारणों से मनुष्य अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख पाता है। इन्हें त्याग कर आप क्षत्रिय-धर्म का पालन कीजिए। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने प्राचीन इतिहास से अनेकानेक दृष्टान्त प्रस्तुत करके उन्हें शोक-मुक्त करने के लिये उपदेश दिया। अन्त में फिर धर्मराज ने व्यास देव से कहा कि हे पितामह, मैंने अपने सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य वीरों को मारकर बड़ा भारी पाप किया है। इस पाप-कर्म से मेरा हृदय दग्ध होता रहता है। मुझे नरक में सिर के बल गिरना पड़ेगा। अतः आप मेरे इस पाप का प्रायश्चित्त बताइये। व्यासदेव ने उन्हें समझाया कि तुमने पाप-कर्म नहीं किया है, क्षत्रिय धर्म का ही पालन किया है, अतः अब संसार में सुव्यवस्था स्थापित करके राज्य करना ही तुम्हारा धर्म है, ऐसा न करके ही तुम पाप के भागी बनोगे। पापों के प्रायश्चित्त बतलाने पर धर्मराज का हृदय हर्षित हो उठा था, उनकी ग्लानि जाती रही थी और राज्य करना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। किन्तु राज्य किस प्रकार करना चाहिये, राजा का धर्म क्या है, इसको उन्होंने जानना चाहा था। व्यासदेव ने राज-धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें भीष्म के पास जाने की आज्ञा दी थी और श्रीकृष्ण ने भी वहीं जाने का अनुरोध किया था। तदनन्तर सबके साथ वे हस्तिनापुर गए और वहाँ उनका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। फिर श्राद्ध-कर्म सम्पन्न करने के पश्चात् वे शासन करने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् वे श्रीकृष्ण के साथ पितामह भीष्म के पास राज्य-धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए गए और भीष्म ने राज-धर्म की शिक्षा के सिलसिले में अपार ज्ञान-राशि उन्हें समर्पित की थी।

यह है महाभारत के आख्यान के शान्तिपर्व का क्रम। इसे देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवर श्री दिनकर ने महाभारत का आश्रय न लेकर अपनी बातों को कहने के लिए महाभारत से केवल दो पात्रों के नाम मात्र ग्रहण किए हैं। कुरुक्षेत्र में ग्रथित विचार अधिक अंशों में गृहीत महाभारत से ही हैं, किन्तु भीष्म के द्वारा उनका कथन कवि का आत्मोद्भावन ही है। युद्ध के समर्थन के लिए वीराग्रणी एवं ज्ञानागार भीष्म का व्यक्तित्व ही कवि को विशेष उपयुक्त प्रतीत हुआ। श्रीकृष्ण भी इसके लिए उपयुक्त पात्र थे किन्तु युद्धारम्भ में युद्ध के समर्थन में वे अर्जुन को गीता सुना ही चुके थे। इसलिए वैसा करना गीता की ही एक प्रकार से पुनरावृत्ति हो जाती और फिर कुरुक्षेत्र काव्य लोगों की दृष्टि में हल्का जँचता। इसीलिए, सम्भवतः, कवि ने पात्र - परिवर्तन करके गीता को एक नया रूप देने का प्रयास किया है।

## वर्ण्य विषय

'सामधेनी' नामक कविता-संग्रह में श्री दिनकर ने 'कलिङ्ग विजय' नाम की एक कविता लिखी है, जिसमें कलिङ्ग-विजय के पश्चात् सम्राट् अशोक का वह शोक वर्णित है, जो उस महानाश एवं स्त्रियों के करुण-क्रन्दन से उनके हृदय में उत्थित हुआ था और जिसके परिणाम-स्वरूप वे बौद्ध हो गए थे। वहाँ कवि ने कहा है—

"टेक सिर ध्वज का लिए अवलम्ब,
आँख से झर-झर बहाते अम्बु।
भूलकर भूपाल का अहम्मित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।"

अन्त में रोते-रोते अशोक का शोक-भार हल्का हो जाता है, उनके क्रोध का स्थान करुणा ले लेती है, उन्हें सज्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी को कवि ने सच्ची मानवता का अभ्युदय कहा है—

"वह गया है अश्रु बनकर कालकूट ज्वलन्त,
जा रहा भरता दया के दूध से वेशान्त।
+ + +
लाल किरणों में यथा हँसता तटी का देश,
एक कोमल ज्ञान से त्यों खिल उठा हृद्देश।
खोल दृग चारों तरफ अवलोक,
सिर झुका कहने लगे मानी महीप अशोकः—
"है नियन्ता विश्व का कोई अचिंत्य, अमेय!
ईश या जगदीश कोई शक्ति हे अज्ञेय!

और सहसा उनके कण्ठ-देश से यह वाणी निःसृत होती है,

"बुद्ध की जय! धम्म की जय! संघ का जय-गान,
आ बसें मुझ में तथागत मारजित् भगवान्।"

इस प्रकार बुद्ध का जय-घोष कर देने पर भी कवि-हृदय को सच्चा समाधान प्राप्त नहीं हो सका था। हिंसा और करुणा का द्वन्द्व उसके हृदय को मथता रहा था। इसी चिन्तन-क्रम में कवि की दृष्टि दूरस्थ द्वापर के क्षितिज पर जा टिकी। कवि के समान ही वहाँ भी उसे दो हृदयों में उद्वेल दिखाई पड़ा, एक था हृदय अर्जुन का और दूसरा था धर्मराज युधिष्ठिर का। अर्जुन के हृदय में युद्ध से विरक्ति युद्धारम्भ में हुई थी और धर्मराज के हृदय में युद्धान्त में। अर्जुन का

अन्तर्द्वन्द्व भगवान् श्रीकृष्ण ने दूर कर दिया था गीतोपदेश द्वारा और वे पुनः स्वेच्छा से युद्ध में प्रवृत्त हो गए थे, यह कहकर—

> "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"

किन्तु जिस प्रकार अशोक के हृदय में युद्धान्त में विराग उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार धर्मराज को भी गान्धारी तथा अन्य विधवा रानियों के करुण विलाप को सुनकर तथा माता कुन्ती द्वारा कर्ण को अपना भाई जानकर संसार से विरक्ति हो गई थी। अर्जुन और धर्मराज दोनों की चिन्तन-धाराओं का समावेश अपने विचारों में करता हुआ कवि प्रथम सर्ग में अपने विचार यों रखता है–

> "विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में
> मूल हो सकता नहीं द्रोहाग्नि का;
> चाहता लड़ना नहीं समुदाय है
> फैलतीं लपटें विषैली व्यक्तियों की साँस से।
> हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
> हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—
> उपचार एक अमोघ है
> अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।
> लड़ना उसे पड़ता मगर।
> औ' जीतने के बाद भी,
> रणभूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ;
> + + +
> सहसा हृदय को तोड़कर
> कढ़ती प्रतिध्वनि प्राणगत अनिवार सत्याघात की—
> 'नर का बहाया रक्त, हे भगवान ! मैंने क्या किया ?' "

इस प्रकार वह कुरुक्षेत्र की श्मशान-भूमि में जा पहुँचता है, धर्मराज के साथ रोता है और अपने द्वन्द्व को लिए हुए, उसके समाधान के हेतु पितामह भीष्म के चरणों की शरण लेता है। भीष्म के सम्मुख अपने अन्तर्द्वन्द्व को रखकर उनसे समाधान माँगता है। भीष्म युद्ध की अनिवार्यता का तथ्य-निरूपण करते हैं और उसे बीच-बीच में निन्द्य भी कहते जाते हैं। अन्त में यह आशा बँधा जाते हैं कि कोई दिन ऐसा अवश्य आएगा जब मानव परस्पर प्रेम से रहना सीख जाएँगे और फिर युद्ध की सम्भावना नहीं रहेगी।

## विचार-सरणि

युद्धान्त की व्यापक ध्वंस-लीला एवं बाल-हीना माताओं, पतिहीना स्त्रियों, पितृहीन बालकों के आर्तनाद से विषण्ण होकर युधिष्ठिर के मन में यह भावना उठती है कि मैंने युद्ध छेड़कर महान् पाप किया है। उनका शोक किसी प्रकार दूर नहीं होता, वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह पुण्य कर्म हुआ है अथवा पाप-कर्म। अपनी इसी शङ्का को वे शर-शय्या पर लेटे हुए योग-लीन भीष्म पितामह के सम्मुख व्यथापूर्ण शब्दों में रखते हैं और उनसे नीति-शिक्षा देने की प्रार्थना करते हैं–

"ध्वंसजन्य सुख ? या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य ?
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है।"

भीष्म उनकी शङ्का और शोक के निराकरण के निमित्त बतलाते हैं कि युद्ध का दायित्व वस्तुत: किसी पर नहीं होता, वह उसी प्रकार समुदाय के विमर्श का परिणाम होता है, जिस प्रकार तूफान प्रकृति के विमर्श का परिणाम होता है। अर्थात् युद्ध स्वाभाविक है, प्रकृति-जन्य है, अतः पुण्य है। सच तो यह है कि पाप और पुण्य के बीच एक सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती, न कोई सुनिश्चित रूप से यह बता सकता है कि वह पाप है और यह पुण्य, किन्तु जितना मैं निश्चित रूप से जानता हूँ, वह यह है–

"जानता हूँ किन्तु, जीने के लिए
चाहिए अङ्गार-जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।"

फिर पाप तो तब होता जब तू शक्ति के रहते मौन त्यागी और तपस्वी बना रहता, इस प्रकार उठकर अन्याय का विरोध या प्रतीकार न करता–

"बद्ध, विदलित और साधनहीन को
है उचित अवलम्ब अपनी आह का;
गिड़गिड़ाकर किन्तु माँगे भीख क्यों
वह पुरुष जिसकी भुजा में शक्ति हो?"

इतना ही नहीं, पितामह तो सुस्पष्ट शब्दों में युद्ध की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं।

वे कहते हैं कि युद्ध तब तक टाला नहीं जा सकता, जब तक मानव-मन से स्वार्थ का समूलोन्मूलन नहीं हो जाता :—

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रही चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।

फिर अनिवार्य घटना के लिये शोक क्यों किया जाय ? इस प्रकार भीष्म युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हुए तप, करुणा, क्षमा आदि सात्विक गुणों को व्यक्ति के गुण बतलाते हैं, ये समुदाय के निमित्त दूषण ही होंगे। इस बात को अनेक बार दुहराकर भीष्म ने युद्ध का समर्थन किया है। लोक-जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र के लिये त्याग, तप, क्षमा आदि गुण दोष हो जाते हैं, ये सांसारिक जीवन बिताने वालों की प्रगति में बाधक होते हैं, अतः इन्हें अपनाकर कोई आदर्श-जीवन नहीं बिता सकता :—

"त्याग, तप, भिक्षा विरागी योगियों के धर्म हैं;
या कि उसकी नीति जिसके हाथ में शायक नहीं;
या मृषा पाषण्ड यह उस कापुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं।"

भीष्म ने उन शोषकों से बलपूर्वक अधिकार छीनने को आदर्श कर्म माना है, जो खड्ग-बल से कृत्रिम शान्ति की व्यवस्था करके लोक का अधिकार अपनी मुट्ठी में किए रहते और जनता का खून चूसते रहते हैं। धर्म-युद्ध उसी को कहते हैं, जो स्वत्व-प्राप्ति के लिये छेड़ा जाय, परस्व-हरण के निमित्त शस्त्र उठाना अधर्म है :—

"सेना साजहीन है परस्व हरने की वृत्ति
लोभ की लड़ाई क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है।"

अतः जब तक परस्व-हरण की वृत्ति का समूलोन्मूलन नहीं हो जाता, तब तक युद्ध का रहना ही धर्म्य है। इसका पूर्णतः तिरोभाव यदि हो जाय, तो करुणा, प्रेम, अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा सम्भव हो सकेगी, तब किसी को खड्ग उठाने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अभी जब तक कि धर्मराज यदा-कदा एकाध दिखाई पड़ जाते हैं और सुयोधनों की ही चारों ओर भीड़ लगी हुई है, तब तक अहिंसा को अपनाना कायरता तो है ही, अधर्म भी है। जब प्रत्येक व्यक्ति को उसका

न्याय्य अधिकार मिल जायगा, कोई दूसरे का अधिकार झपटने को हाथ नहीं बढ़ाएगा, तभी युद्ध का परित्याग किया जा सकेगा, और तभी उसकी आवश्यकता भी नहीं रह जायगी,जब सब लोग स्वत्व मात्र अपना कर सन्तुष्ट रहना सीख लेंगे।

युद्ध का कारण केवल परस्व-हरण ही नहीं होता, उसमें और भी कारणान्तर आकर मिलते रहते हैं। जब वे सब एक साथ आ मिलते हैं, तभी युद्ध का विस्फोट होता है। जैसे, महाभारत के युद्ध में न केवल पांडवों का अधिकार-हरण ही एकमात्र कारण था, अपितु भारत के अन्य नृपतियों के पारस्परिक द्वेष, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि भी जब आकर उस मूल निमित्त में सम्मिलित हो गए तब इतना महान् विस्फोट सम्भव हुआ, जिसमें सम्पूर्ण देश जलकर भस्मसात् हो गया। एक बात और कवि ने भीष्म से कहलवाई है, जो ध्यान देने योग्य है। वह यह कि बुद्धि ही अनर्थों की जड़ होती है, यदि मनुष्य हृदय का कहा मानकर चले, तो युद्ध का मूलभूत बीज सम्भव ही न हो। यदि भीष्म ने हृदय की आज्ञा मानकर कौरवों के अनय का प्रारम्भ में ही विरोध किया होता तो वे आगे और अनयों के सर्जन का साहस ही न करते, और भीष्म इस प्रकार उस महायुद्ध को रोक भी सकते। बुद्धि के पैरों तले जब हृदय कुचल दिया जाता है तब नाना प्रकार के अनर्थों का उद्भव होता है—

"सदा नहीं मानापमान की बुद्धि
उचित सुधि लेती।
करती बहुत विचार,
अग्नि की शिखा बुझा है देती।"

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी कामायनी में रुद्र-रोष-जन्य संहार का कारण इड़ा ( बुद्धि ) को ही बतलाया है। इड़ा ने जब कामायनी ( श्रद्धा, हृद्‌वृत्ति ) से कहा कि क्या मैं ही इस अनर्थ का कारण हूँ, इस महानाश का कर्तृत्व-पद मुझे ही प्राप्त है? श्रद्धा 'हाँ' में उत्तर देती हुई कहती है—

"श्रद्धा बोली, 'बन विषम ध्वान्त!
सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय;
अपनापन चेतन का सुखमय
खो गया, नहीं आलोक उदय;
सब अपने पथ पर चले श्रान्त,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।
+ + +

ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक-रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;
सुख-दुख की मधुमय धूप-छाँह,
तू ने छोड़ी वह सरल राह।"

'प्रसाद' जी ने इस प्रकार बुद्धि को अनर्थोत्पादिनी कहा है और एक ऐसे नव-लोक की स्थापना की परिकल्पना की है जहाँ हृदय बुद्धि का दास नहीं रहता। श्रद्धा समरसता द्वारा चिर शान्ति की स्थापना का आदेश अपने पुत्र 'मानव' को दे जाती है। इस प्रकार वह अकेला ही नहीं रहने पाता है, उसका हाथ इड़ा के हाथों में सुरक्षित है—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा—भार;
वह तर्कमयी, तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार।"

इस प्रकार बुद्धि और हृदय के समन्वय में 'प्रसाद' जी ने चिर शान्ति के स्थापन की कल्पना की थी और उसी में लोक-मलङ्ग देखा था। श्री दिनकर ने भी बुद्धि का तिरस्कार ही किया है और किया है यौवन की उस उद्दाम इच्छा का समर्थन जिससे सहम कर बुद्धि एक कोने में दुबकी तिरस्कृत पड़ी रहती है। भीष्म महानाशक अनर्थ के अन्त में कहते हैं—

"कर पाता यदि मुक्त हृदय को
मस्तक के शासन से,
उतर पकड़ता बाँह दलित की
मन्त्री के आसन से;
+ + +
स्यात् सुयोधन भीत उठाता
पग कुछ अधिक सँभल के,

भरत-भूमि पड़ती न स्यात्
संगर में आगे चलके।"

इसी सिलसिले में भीष्म ने एक स्थान पर शान्ति-विधान का एक उपाय बतलाते हुए कहा है—

"शान्ति नहीं तब तक जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।"

—सर्ग ३।

रण-मुक्ति का उपाय भीष्म ने सातवें सर्ग में बतलाया है। महाभारत में भीष्म ने एक ऐसे पुराचीन काल का इतिहास धर्मराज को सुनाया है, जब पृथ्वी पर न किसी राजा का और न ही प्रजा का अस्तित्व था, सभी सहज प्रेम के वशीभूत एक-दूसरे का सुख-दुःख परस्पर बाँट लेते थे और सुखी रहा करते थे। कुछ दिनों पश्चात् स्वार्थ-भावना की उत्पत्ति हुई और अनर्थ बढ़े, तब ब्रह्मा ने लोगों के कहने से उन्हें एक नृपति शासन के लिए उत्पन्न किया और यह क्रम तब से बराबर चला आ रहा है। उस शासक-विहीन प्राचीन युग की अवतारणा तभी हो सकती है जब धरती खूँखार भेड़ियों, व्याघ्रों से रहित कर दी जाय और सबको अपने विकास का समुचित अवसर मिलने लगे—

"रण रोकना है तो उखाड़ विष-दन्त फेंको,
वृक व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त करदो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो;
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं, उन्हें फैकने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।

+ + +

जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।"

ये कवि के शब्दों में भीष्म के युद्ध के समर्थन और भावी शान्ति की प्रतिष्ठा पर अङ्कित विचार हैं। साम्यवाद ही विश्व में शान्ति ला सकता है, यही कवि के चिन्तन का परिणाम है।

आधुनिक विश्व में जब विश्व-विध्वंसक पारिमाणविक अस्त्रों के निर्माण हो चुके हैं, तब शान्ति एक अनुपेक्षणीय अनिवार्य विवेच्य समस्या हो गई है। भारत के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ महाभारत से हमें यह पता चलता है कि प्राचीन भारत के पास आज से कहीं श्रेष्ठ संहारक अस्त्र थे और उनके इच्छानुसार प्रयोग तथा संहृति की विधियाँ भी विशिष्ट-व्यक्तियों को ज्ञात थीं। किन्तु वे ऐसे हाथों में ही परम्परा से दिए जाते थे जो धर्मज्ञ एवं लोक-मङ्गलाकांक्षी होते थे और जिनसे विश्व के अमङ्गल की तनिक भी आशङ्का नहीं रहती थी। परशुराम, गुरु द्रोण, भीष्म, कर्ण और अर्जुन महाभारत-काल में इनके अधिकारी थे, और उन्होंने ऐसे अस्त्रों का प्रयोग क्रोधावेश में भी कभी नहीं किया। गुरुद्रोण ने वात्सल्य प्रेम के वशीभूत हो तथा अपने पुत्र के अत्यन्त अनुरोध से विवश होकर ऐसा ही संहारक ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अश्वत्थामा को अनिच्छापूर्वक दे दिया था। वे उसके उद्धत स्वभाव से अवगत थे, अतः उसके चालन की विधि तो उसे बता दी थी, किन्तु संहार या निरोध का विधान नहीं बताया था। तिस पर भी उस भयानक युद्ध-काल में अश्वत्थामा ने उसका प्रयोग कभी नहीं किया था। ब्रह्म, पाशुपत आदि अस्त्र ऐसे ही थे। आज के विकसित विज्ञान-युग में परमाणु और उद्‌जन आदि बमों के निर्माण हो चुके हैं। अविवेकी अमरीकावालों द्वारा विगत महायुद्ध में निरीह जनता एवं अन्य प्राणियों के संहारार्थ परमाणु अस्त्र का दो बार प्रयोग भी हो चुका है। ऐसी स्थिति में शान्ति का स्थापन मानव मात्र का धर्म हो जाता है। श्री दिनकर ने इस पक्ष पर उतना ध्यान नहीं दिया और उनके विचार अन्य युग में ही विशेष रूप से उलझे रह गए हैं, इसीलिए प्रतिशोधात्मक एवं स्वत्व-रक्षक युद्ध का—भले ही वह धर्म-युद्ध ही क्यों न हो—उन्होंने समर्थन किया है। इस युद्ध के समर्थनार्थ उन्होंने काव्य के अन्तिम सर्ग में गीता का तृतीय अध्यायवाला कर्मयोग उतार लिया है और बीच-बीच में विश्व की नश्वरता दिखाने के लिये सांख्य-योग ( गीता, अध्याय २ ) का भी आश्रय लिया है। जब धर्मराज संसार से अपनी विरक्ति प्रकट करते हैं, तब पितामह उन्हें सांख्ययोग और कर्मयोग की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"धर्मराज किसको न ज्ञात है
यह कि अनित्य जगत् है;

जन्मा कौन, काल का जो नर
हुआ नहीं अनुगत है?"

महाभारत में इस प्रकार नश्वरता का उपदेश युधिष्ठिर को देते हुए कृष्ण ने सुहोत्र, वृहद्रथ, शिवि, भरत, भगीरथ, रामचन्द्र आदि विश्व-विजयी वीरों का उपाख्यान सुनाते हुए यह समझाया था कि ऐसे धर्म-परायण एवं प्रतापी नृरत्न भी अन्त में काल से बच नहीं सके थे, फिर तुम इस युद्ध में मृत-जनों के लिए विषाद क्यों कर रहे हो? अर्जुन को गीता सुनाते हुए उनकी विरक्ति को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने ज्ञान और कर्म दोनों का विशद उपदेश किया था—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानिभारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

गीता, अ० २।

फिर कर्म-योग की बातें जो विस्तारपूर्वक कहलवाई गई हैं, वे भी गीता की ही हैं, कवि ने गीता के कर्मोपदेश द्वारा पलायनवाद का खण्डन किया है। गीता के अर्जुन ने भगवान् के द्वारा ज्ञानयोग का समर्थन सुन तुरत प्रश्न किया था—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

उनकी इस शंका का निराकरण कृष्ण ने कर्मयोग के विविक्त कथन द्वारा किया। उन्होंने सांख्य और कर्म-योग का एकत्व प्रतिपादित करते हुए कहा था—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

गी०, अ० ५।

कर्म की महत्ता का प्रतिपादन इस प्रकार गया है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

## काव्य-तत्त्व

कुरुक्षेत्र एक सोद्देश्य रचना है। युद्ध और शान्ति का द्वन्द्व ही, कवि के शब्दों में, काव्य बन गया; मुख्यतः कवि की दृष्टि प्रस्तुत रचना के रचनाकाल में काव्य के रमणीय पक्ष की ओर कम थी, विचार-विमर्श ही उसका प्रमुख ध्येय रहा है। अतः आनन्दवर्द्धन ने जिस काव्य के लिए यह कहा था—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

अथवा,

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥"

और उन्होंने महाकवियों की वाणी में जिस प्रतीयमान वस्तु की ओर सङ्केत किया था और जो शब्दार्थ-शासन-ज्ञान मात्र से ही वेद्य न होकर उसके मर्म में निहित होती है, उसे बताया था, उधर हमारे कवि के ध्यान को जाने का अवकाश ही कहाँ था, क्योंकि काव्य का विषय ही गद्याश्रयी था। प्रस्तुत काव्य 'शब्दार्थ शासनज्ञान मात्रेणैव वेद्य' है, प्रस्तुत रचना काव्य-तत्त्वज्ञ की अपेक्षा नहीं रखती।

काव्य-ग्रन्थों पर दृष्टि-निक्षेप करने पर एक ही ग्रन्थ ऐसे उद्देश्य को ध्यान में रखकर रचा गया मिलता है, यदि हम उसे महाभारत से पृथक् स्वीकार कर लें, और वह है 'भगवद्गीता'। ऐसी रचना का उद्देश्य काव्यानन्द नहीं होता। जिस प्रकार प्राचीन काव्यों का मुख्य उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि कराना होता था, उसी प्रकार गीता अथवा कुरुक्षेत्र जैसे ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य प्रतिपाद्य विषय का सम्यक् ज्ञान कराना होता है। जैसे सहृदय-संवेद्य काव्यों के बीच-बीच में नीति, धर्म के उपदेशों का सन्निवेश होता चलता है, उसी प्रकार इस प्रकार के काव्यों में भी काव्यात्मक पङ्क्तियाँ यथावकाश सन्निविष्ट रहती हैं। विशुद्ध काव्य में कवि का उद्देश्य व्यंग्य रहता है और इसमें वाच्य। अतः कुरुक्षेत्र में मानव-चरित्र का वैविध्य, भावों का वैविध्य, प्रकृति-विधान, कथावस्तु का क्रमिक विकास, चरित्रों के उत्कर्षापकर्ष और रस-परिपाक को ढूँढना व्यर्थ श्रम होगा। कवि ने इसीलिए काव्य के आरम्भ में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में निवेदन करते हुए कह दिया है—

"कुरुक्षेत्र में प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है। दर-असल, इस पुस्तक में मैं, प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल गई हो। फिर भी कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी

के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः, एक साधारण मनुष्य का शङ्काकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"

यह तो कहना ही पड़ेगा कि कुरुक्षेत्र एक साधारण मनुष्य के शङ्काकुल हृदय की बोली नहीं है, वह है एक कवि की द्वन्द्वाकुल वाणी। वह गीता मात्र न होकर काव्यात्मक गीता है। कवि ने अपने हृदय के द्वन्द्व के परस्पर विरोधी विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए महाभारत-काल के दो प्रमुख पात्रों को चुना है। करुणा-जन्य शान्तिवादी भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं धर्मराज और कर्म या धर्मयुद्ध के पोषक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं पितामह भीष्म। धर्मराज युधिष्ठिर की युद्ध-विरोधी भावना को 'और अधिक प्रभविष्णु बनाने के लिए ही कवि ने रण-भूमि में बिखरे शवों का करुणोत्पादक एवं वीभत्स दृश्य भी भीष्म के सम्मुख उपस्थित रखा है, यद्यपि महाभारत में धर्मराज सभी मृतवीरों का शव-दाह करने और सब आत्मीयों को तिलाञ्जलि देने के पश्चात् भीष्म के पास जाते हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य बातों को भी युधिष्ठिर के मुख से भीष्म के समक्ष उपस्थित किया गया है, जो महाभारत में पहले ही गुजर चुकी हैं।

काव्य के प्रथम सर्ग को काव्य की भूमिका कहना चाहिए, इसमें युद्ध के लोकसंहारक स्वरूप पर कवि की करुणा बोल रही है। मेघ-घटाओं से आच्छादित हो जाने पर जिस प्रकार आकाश का वास्तविक स्वरूप ढक जाता है, उसी प्रकार द्वेष, क्रोध की भावनाएँ उमड़कर मानव-हृदय के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर लेती हैं। क्रोध और द्वेष से शून्य दशा में ही मानव-हृदय का प्रकृत स्वरूप देखा जा सकता है। युद्धान्त में मनुष्य का क्रोध प्रशमित हो जाता है तभी उसका सहज स्वरूप देखने को मिलता है। महाभारत के युद्धोपरान्त कवि युधिष्ठिर के विषण्ण मन को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है—

> "विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में
> मूल हो सकता नहीं द्रोहाग्नि का;
> चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
> फैलतीं लपटें विषैली व्यक्तियों की साँस से।"

द्वितीय सर्ग का प्रथम कवित्त एक स्वतन्त्र कविता ही है। आज्ञाकारिणी दासी के समान मृत्यु का और अलौकिक गौरव-शाली शर-शय्या-शायी भीष्म का रूप-विधान ( जिसे पढ़ते ही महाभारत सामने उतर आता है ), वीरता की तेजोमयी दीप्ति और लाक्षणिक पदावली से विशिष्ट भाषा का प्रसन्न प्राञ्जल

स्वरूप तथा समुचित छन्दश्रयन देखते ही हृदय खिल उठता है। शोक एवं वेदना से रहित, ज्ञान-गम्भीर पुरुषत्व के अवतार भीष्म के सम्मुख कातर निवेदन लिए विषण्ण धर्मराज का जाकर उनके चरणों पर गिरना देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वीर रस के चरणों पर मूर्तिमान् करुण रस ही लोट रहा हो। युधिष्ठिर के कथन से करुणा की धारा प्रवाहित होती है और वह मानवता की पुकार वीर एवं ज्ञानी को भी प्रभावित किए बिना नहीं रहती। भीष्म मन ही मन कह उठते हैं—

"और बोले 'हाय नर के भाग!
क्या कभी तू भी तिमिर के पार
उस महत् आदर्श के जग में सकेगा जाग,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से?"

भीष्म का आरम्भिक उपदेश भी नीरस एवं शुष्क ज्ञान-कथन न होकर उदाहरण द्वारा प्रकृति के भीषण एवं विषादमय स्वरूप को लिए हुए काव्य बन जाता है। तृतीय सर्ग का राजनीति-कथन भी रोष को जगानेवाली कवि-वाणी है, कोरे नीतिज्ञ का रूखा नीति-कथन मात्र नहीं। मनहरण कवित्तों में जितनी रचनाएँ कुरुक्षेत्र में प्रस्तुत की गई हैं, वे भावानुकूल रस-धारा प्रवाहित करने में पूर्ण समर्थ हैं और वे अंगूठी में नग-सी चमक उठी हैं। उन्हें पढ़कर कोई कह सकता है कि यह दिनकर का कवि बोल रहा है, वह विराग या कर्म का उपदेष्टा मात्र नहीं है। मेरे कथन का तात्पर्य यह नहीं कि कवित्तों के अतिरिक्त अन्य छन्दों अथवा मुक्तछन्दों में कविता उतरी नहीं है। कवि ने अन्यत्र भी ऐसे प्रसङ्गों पर कविता उतारने का यत्न किया है, जहाँ उसकी गुंजाइश बहुत कम रही है।

अतः कुरुक्षेत्र को हम भाव-प्रधान काव्य न कहकर विचार-प्रधान काव्य ही कहेंगे, क्योंकि विचारों ने कविता को प्रायः आच्छन्न रखा है।

## प्रबन्ध-तत्व

### ( प्रश्नोत्तरों का औचित्य एवं परिस्थिति का याथार्थ्य )

श्रीमद्भगवद्गीता एक प्रश्न के समाधान में लिखित काव्य है, जिसे आज धर्म-ग्रन्थ के ही रूप में जाना जाता है। उसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का दार्शनिक निरूपण है, काव्यात्मक नहीं। एक महाग्रन्थ का खण्डमात्र होने पर भी

वह अपने में स्वतःपूर्ण एक गम्भीर रचना है। उसका प्रबन्ध-कौशल अपनी चरम परिणति पर पहुँचा हुआ है। विषय का उपस्थापन अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु मार्मिक, एवं समुचित प्रश्नों का निबन्धन और अधिकारपूर्ण ढंग से विषय-विवेचनात्मक सन्तुलित शब्दों में उत्तर, मानो आद्यन्त सम्पूर्ण ग्रन्थ साँचे में ढला हुआ हो, अस्वाभाविक एवं अनावश्यक विस्तार कहीं मिलता ही नहीं। अर्जुन के कहने से कृष्ण रथ को दोनों सेनाओं के बीच ला खड़ा करते हैं, अर्जुन देखते हैं कि कौन-कौन से वीर युद्ध के लिए कौरवी सेना में सम्मिलित हुए हैं। अर्जुन ने देखा कि यहाँ तो सभी स्वजन ही मरने-मारने के लिए एकत्र हुए हैं, यदि इनको मैंने मार ही डाला और यदि विजय-श्री ने मेरा वरण कर भी लिया तो भी ऐसी विजय किस काम की? इससे तो महान् कुल-क्षय-कृत दोष का हमें भागी होना पड़ेगा, इतने बड़े पाप-कर्म को करने में मेरे हाथ जवाब दे रहे हैं, शरीर से पसीना छूट रहा है, और मेरा साहस भी हृदय से निर्वासित हो रहा है, अतः यदि ये आत्मीय बन्धु मुझे मारें तो भी मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। और—

"निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥"

कुलक्षय से जाति-धर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, अधर्म का प्राबल्य होता है और अन्ततः नरक-वास का कष्ट भोगना पड़ता है। अतः मैं इस युद्ध में प्रवृत्त ही नहीं हूँगा।

गीताकार ने कितनी योग्यता के साथ प्रतिपाद्य विषय का उपस्थापन किया है, शङ्काकुल अर्जुन का शान्ति-समर्थन कितनी तार्किक युक्ति पर आधारित है, द्रष्टव्य है। साथ ही कृष्ण का ज्ञान-गाम्भीर्य और निर्द्वन्द्व अधिकारिक वचन, जैसे घने बादलों को उड़ाता हुआ स्वच्छन्द पवन, देखते ही बनता है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥
क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप!॥

मानो श्रीकृष्ण की पैनी दृष्टि अर्जुन के कुहेलिकापूर्ण हृदयाकाश के आर-पार देख रही हो और उसे एक फूँक में उड़ा देने की सामर्थ्य भी रखती हो। एक ओर अर्जुन युद्ध को अधर्म्य कहकर उसका निषेध करते हैं और दूसरी ओर

कृष्ण युद्ध न करने को अधर्म्य, अनार्यजुष्ट और अस्वर्ग्य कहकर युद्ध का समर्थन कर रहे हैं। क्या उचित है और क्या अनुचित, इसी को लेकर गीता में प्रश्नोत्तरों का ताँता लग जाता है और धर्म के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन भी हो जाता है।

ठीक गीता के ही आदर्श पर कुरुक्षेत्र की रचना हुई है। वही प्रश्न अपने उद्विग्न प्राणों में लिए हुए धर्मराज अपने पितामह के चरणों में शान्ति-लाभार्थ जाते हैं, युद्ध की निष्फलता का चित्र उनकी आँखों के सामने नाच रहा है। कृष्ण ने दार्शनिक विचारों के आधार पर युद्ध का समर्थन किया था, भीष्म विगत स्थूल कारणों के महत्व को दृष्टि में रखकर उसका समर्थन करते हैं। कृष्ण स्थूल जगत् की नश्वरता की पुष्टि करते हैं, भीष्म स्थूल जगत् की सार्थकता पर भी दृष्टि रखते हैं, इसीलिए वे शांति के समर्थक भी हैं और उस दिन मानव का सौभाग्य मानने को प्रस्तुत हैं जब धर्मराज की प्राण-निष्ठ निर्मलता में सारा विश्व युद्ध-विरत हो जायगा। इसीलिए भीष्म आद्यन्त द्वापर के ही न होकर कलियुग के अथवा कुछ अंशों में आज के भी हो गए हैं।

कुरुक्षेत्र को प्रबन्ध के रूप में उतारने का यत्न किया गया है। द्वितीय सर्ग के आरम्भ में लगभग दस घनाक्षरियों में धर्मराज ने अपनी विरक्ति का कारण तथा हृदय-दौर्बल्य प्रकट किया है। इनमें उनका अन्तर्द्वन्द्व भी देखने को मिलता है, जिससे मुक्ति पाने के लिये उन्हें एकमात्र भीष्म की शरण ही त्राणकारी प्रतीत हुई। उनका द्वंद्व इस छंद में स्पष्टतया प्रकट हुआ है—

"एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है;
जानता हूँ, लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु,
लोहू-सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है;
ध्वंसजन्य सुख ? याकि, साश्रु दुख शान्तिजन्य ?
ज्ञात नहीं कौन बात नीति के विरुद्ध है;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है॥"

फिर युद्ध किस स्थिति में वरेण्य है और किस स्थिति में त्याज्य, इसे पितामह विस्तार के साथ समझाते हैं। शर-शय्या पर बाण-विद्ध वे पड़े हुए हैं, उन्हें कुछ पीड़ा होती होगी या नहीं, इधर धर्मराज का ध्यान, अथवा कहें, कवि का ध्यान एकदम जा नहीं पाता। वह जाते ही पैरों पर गिरकर अपनी ही मनो-

वेदना का इज़हार करने लगते हैं, मानो भीष्म राज-भवन में सुख-शय्या पर पड़े हों और युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले से ही प्रस्तुत हों। इसे ही औचित्य-विचार कहा गया है। कवि की दृष्टि परिस्थितियों की वस्तु-स्थिति पर भी जानी चाहिए। महाभारतकार ने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। श्रीकृष्ण भीष्म की वेदना प्रश्न द्वारा जानकर उनकी व्यथा के परिहार का पहले उपचार कर लेते हैं, तब धर्मराज को पितामह उपदेश देने योग्य होते हैं। प्रबन्ध में परिस्थिति का समुचित आकलन होना चाहिए।

धर्मराज के पास सिवाय अपनी संहारजन्य मनोवेदना व्यक्त करने के और कोई प्रश्न ही नहीं है। एक तो द्वितीय सर्ग में जाते ही वे जीत और हार के निर्णय कर देने की बात करते हैं, क्योंकि युद्ध-भूमि में प्राण त्याग कर सुयोधन लौकिक दुःख से मुक्त हो चुका है और मृत बन्धु-बान्धवों के शोक में विलाप करती हुई अबलाओं की करुण वाणी बचे हुए पाण्डवों के ही हृदय को वेध रही है। बन्धु-बान्धवों के शव-दाह का करुण दृश्य इन्हें ही व्यथित कर रहा है, मृतवीर तो उससे परे थे। अतः एक प्रश्न तो जीत-हार का होता है। दूसरा, संन्यास-धर्म ग्रहण करना विधेय होगा अथवा त्याज्य। तीसरा प्रश्न है, युद्ध द्वारा पुण्य की प्रतिष्ठा हुई अथवा पाप की। भीष्म उत्तर दे चलते हैं विस्तार के साथ, पहली बात उनकी यह है कि युद्ध होंगे ही, युद्ध तो होता ही, चाहे तू चाहता या न भी चाहता। इसी बात को कृष्ण ने भी अर्जुन से कहा था कि तेरे चाहने न चाहने से तो कुछ नहीं होता, वह तो होकर ही रहेगा—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

गीता, अ० १८।

पितामह कहते हैं—

"'औ' समर तो और भी अपवाद है—
चाहता कोई नहीं इसको, मगर—
जूझना पड़ता सभी को,.........."

युद्ध की वैधता का प्रतिपादन करते हुए भीष्म का कथन है—

"छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है—"

हाँ, जो शत्रु के सम्मुख हीनबल हो, युद्ध उसके लिए त्याज्य है—

"बद्ध, विदलित और साधनहीन को
है उचित अवलम्ब अपनी आह का।"

इस प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग भीष्म के उत्तर के रूप में समाप्त हो जाते हैं। इस सोदाहरण युक्तियुक्त विस्तृत उत्तर का किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव धर्मराज पर नहीं पड़ता। भीष्म के कथन के प्रतीकार में वे अपनी कोई सयुक्तिक शङ्का नहीं रखते, फिर भी इस अस्थिरचित्त व्यक्ति को कवि 'ज्ञानी' की संज्ञा दे डालता है, यद्यपि उनकी दशा स्पष्ट ज्ञानहीन, किंकर्तव्यविमूढ़-सी ही है—

"इस काल-गर्भ में किन्तु एक नर ज्ञानी
है खड़ा कहीं पर भरे दृगों में पानी।" सर्ग ५।

पाँचवें सर्ग तक आने पर भी युधिष्ठिर वे ही दूसरे सर्गवाले ही हैं और उनका प्रश्न भी वही है, कोई तर्कस्थ नूतन सूझ नहीं है, वही विषण्ण विलाप—

"बहती रही पितामह मुख से कथा अजस्र, अमेय—
सुनते ही सुनते, आँसू में फूट पड़े कौन्तेय।
"हाँ सब कुछ हो चुका पितामह, रहा नहीं कुछ शेष—
शेष एक आँखों के आगे है यह मृत्यु-प्रदेश—
जहाँ भयङ्कर, भीमकाय शव-सा निस्पन्द, प्रशान्त—
शिथिल श्रान्त हो लेट गया है स्वयं काल विक्रान्त।

\+ \+ \+

सड़ती हुई विषाक्त गन्ध से दम घुटता-सा जान—
दबा नासिका निकल आगता है द्रुतगति पवमान।
विभव, तेज, सौन्दर्य गये सब दुर्योधन के साथ—
एक शुष्क कङ्काल लगा है मुझ पापी के हाथ।"

युधिष्ठिर की शङ्का या प्रश्न सन्तुलित संक्षिप्त शब्दावली में नहीं है और जो उनका कथनीय है, वह भी बार-बार उनसे दुहरवाया-तिहरवाया गया है। देखिए दूसरे सर्ग की ही बातें, फिर पाँचवें में दुहरी-तिहरी-चौहरी होकर आती हैं—

"एक शुष्क कङ्काल युधिष्ठिर की जय की पहचान—
एक शुष्क कंकाल, महाभारत का अनुपम दान।
एक शुष्क कंकाल, मृतों के स्मृति-दंशन का शाप—
एक शुष्क कंकाल, जीवितों के मन का सन्ताप।
धरती वह जिस पर कराहता है घायल संसार,
वह आकाश, भरा है जिसमें करुणा का चीत्कार।"

फिर आगे बराबर देखते जाइए एक ही बात को अनेकानेक बार आवृत्ति की गई है—

"सब वीर सुयोधन साथ गए, मृतकों से भरा यह देश बचा है।"

शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए युधिष्ठिर के पास कोई सैद्धान्तिक बल नहीं है, केवल रोने से ही शान्ति का प्रसार नहीं होता। पाँचवाँ पूरा सर्ग, जो काफी बड़ा है, युधिष्ठिर के निर्वेदाकुल हृदय के विलाप में ही समाप्त हो जाता है। जिन बातों का भीष्म ने खण्डन किया था, धर्मराज के मन में वे ज्यों की त्यों अखण्डित रूप में सुरक्षित हैं। द्वितीय सर्ग में, भीष्म धर्मराज के क्लैव्य की भर्त्सना करते हुए बता चुके हैं कि व्यावहारिक जगत् के लिए त्याग, तप, करुणा, क्षमा, अपमान-सहिष्णुता व्यवहार्य नहीं हैं, तू इसे क्यों भूल जाता है?

"और जब तूने उलझकर व्यक्ति के सद्धर्म में
क्लीव-सा देखा किया लज्जा-हरण निज नारि का,
(द्रौपदी के साथ ही लज्जा हरी थी जा रही
उस बड़े समुदाय की जो पाण्डवों के साथ था।)
और तूने कुछ नहीं उपचार था उस दिन किया;
सो बता क्या पुण्य था? या पुण्यमय था क्रोध वह
जल उठा था आग-सा जो लोचनों में भीम के?
त्याग, तप, भिक्षा? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर,
त्याग, तप, भिक्षा विरागी योगियों के धर्म हैं;
या मृषा पाषण्ड यह उस कापुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर,
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं।"

भीष्म ने उस संहारकारी युद्ध के मूल में जो अवान्तर प्रतिशोधात्मक कारण थे, उन्हें भी समझाया था, फिर भी युधिष्ठिर यही कहते जाते हैं–

"मिट जाये समस्त महीतल क्योंकि किसी ने किया अपमान किसी का।
+ + + +
नर हो बलि के पशु दौड़ पड़ें कि उठा बज युद्ध-विषाण किसी का॥"

भीष्म का समर्थन लोक को दृष्टि में रखकर होता है, किन्तु धर्मराज व्यक्ति-धर्म में ही उलझे रह जाते हैं, लोक-धर्म की सार्थकता को स्वीकृति ही नहीं देते और न ही शान्तिवादी सामूहिक किसी लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ही बात उठाते हैं:—

"यह होगा महा रण राग के साथ युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा।"

पूरा का पूरा षष्ठ सर्ग कवि, भीष्म और युधिष्ठिर को एक ओर ठेल कर,

अपने लिए सुरक्षित रख लेता है, जो काव्य के प्रबन्धत्व में पर्याप्त शैथिल्य ला देता है। यदि इस सर्ग को इस ग्रन्थ से पृथक् कर दिया जाय तो इसकी तनिक भी क्षति न होगी, शैथिल्य भी काफी मात्रा में जाता रहेगा। सातवें सर्ग में भीष्म ने कर्म और सांख्य-योग की समाहृत शिक्षा दी है, धरती और आकाश ( यथार्थ और कल्पना ) की बातें समझाई हैं।

प्रबन्ध-काव्य में किसी एक ही बात की बार-बार पुनरावृत्ति एक बड़ा दोष है, इससे काव्यानन्द की धारा में बेतरह व्याघात पहुँचता है। किन्तु कोई नई बात, प्रश्न के उत्थापन का कोई नया पहलू हस्तगत न होने से एक ही बात की अनेक बार आवृत्ति के कारण कुरुक्षेत्र में प्रबन्ध-शैथिल्य आ गया है।

## परस्पर विरोधी बातें

आज 'गीता' महाभारत काव्य का एक अंश मानी जाती है, यह सच है, किन्तु कतिपय विद्वानों ने कहा है कि इसकी रचना महाभारत से परवर्ती काल की है। दूसरी बात यह कि गीता कृष्ण ने अर्जुन को सुनाई थी, भीष्म और युधिष्ठिर ने इसे नहीं सुना था और न ही उस उपदेश से वे अवगत थे। यदि युधिष्ठिर गीता के उपदेशों से अवगत थे, तब 'कुरुक्षेत्र' काव्य में भीष्म के उपदेशों की निरर्थकता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उन्होंने प्रायः सभी बातें गीता की ही दुहरा दी हैं, कोई नूतन विचार-धारा प्रस्तुत नहीं की है। धर्मयुद्ध का समर्थन कृष्ण ने भी किया था—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि॥
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

(गीता, अ० २)

निष्काम कर्म का उपदेश कृष्ण ने दिया था, भीष्म भी वही करते हैं। इसी प्रकार आत्मा की अनश्वरता, मोह-बुद्धि के परित्याग, संन्यास से सिद्धि का अधिगतत्व, लोकसंग्रहात्मिका भावना आदि की जो बातें गीता में आई हैं, वे ही भीष्म द्वारा कथित या प्रतिपन्न हुई हैं:—

"मिट्टी का यह भार सँभालो
बन कर्मठ संन्यासी,

पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम—प्रवासी।"

सर्ग ७।

देखिए गीता का ही कर्म-संन्यास है–

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
काम एव क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

गी०, अ० ३।

कुरुक्षेत्र के भीष्म भी उसी को दुहराते हुए कहते हैं–

"मन का होगा आधिपत्य
जिस दिन मनुष्य के तन पर,
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन
भोग लिप्त जीवन पर।

कंचन को नर साध्य नहीं,
साधन जिस दिन जानेगा,
उस दिन सम्यक् रूप मनुज का
मानव पहचानेगा।

वल्कल-मुकुट परे दोनों के
छिपा एक जो नर है,
अन्तर्वासी एक पुरुष जो
पिण्डों से ऊपर है।

जिस दिन देख उसे पायेगा
मनुज ज्ञान के बल से,
रह न जायगी उलझ दृष्टि जब
मुकुट और वल्कल से।
उस दिन होगा सुप्रभात
नर के सौभाग्य उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित
मानव की महाविजय का।"

कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार जब गीता ही कवि ने लाकर रख दी है कोई विशिष्ट नूतन सिद्धान्त का निरूपण नहीं किया गया है, तब धर्मराज युधिष्ठिर के मुख से 'गीता' का ज़िक्र न कराना ही कुरुक्षेत्र की गाम्भीर्य-रक्षा की दृष्टि से उत्तम था। अन्यथा जिस गीता से धर्मराज अवगत हैं उसे पुनः सुना देना शङ्का-समाधान के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि गीता के सुन लेने पर भी यदि 'विरति प्रबुद्ध' है, तब फिर उसी की पुनरुक्ति का क्या अर्थ हुआ? शुरू में ही धर्मराज भीष्म से कहते हैं—

"एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है।
जानता हूँ लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु,
लोहू सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है।"

यदि धर्मराज ने भी गीता सुनी होती तो महाभारतकार ने युद्धान्त में उनकी यह विरति न दिखाई होती। अतः धर्मराज के मुख से 'सत्यमयी' गीता का उल्लेख कराकर कवि ने भीष्म के ( या अपने ) श्रम पर पानी फेर दिया है। एक समर्थ प्रबन्धकार के विस्तृत प्रबन्ध में भी ऐसी त्रुटि नहीं रहती, इसीलिए कवि की यह उक्ति बिल्कुल ठीक है—

"अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः।"

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, धर्मराज मृतवीरों का सविधि शव-दाह कराकर तब पितामह के पास जाते हैं, अतः रणाङ्गण में शव थे ही नहीं, जिनका वीभत्स दृश्य उनको दिखाया जाता। किन्तु कवि ने महाभारत की पुनरावृत्ति मात्र को ध्येय न बनाकर अपने उद्देश्यानुसार शवों का वीभत्स एवं करुणोत्पादक दृश्य ही उपस्थित किया है, यह उसकी सूझ काव्योपयोगी है। फिर आरम्भ से अन्त तक इस भावना के समुचित निर्वाह पर वह ध्यान नहीं देता है। जब

धर्मराज पहले-पहल पितामह के पास जाते हैं तब वे शव-दाह की बातें कह देते हैं, जिससे प्रकट होता है कि वे ही महाभारत के युधिष्ठिर हैं और धृतराष्ट्र के आज्ञानुसार शव-दाह से निवृत्त होकर आ रहे हैं। देखिए—

"हाय, पितामह, हार किसकी हुई है यह ?
ध्वंस-अवशेष पर सिर धुनता है कौन ?
कौन भस्म-राशि में विफल सुख ढूँढता है ?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन ?
और बैठ मानव की रक्त-सरिता के तीर
नियति के व्यंग-भरे अर्थ गुनता है कौन ?
कौन देखता है शव दाह बन्धु-बाधवों का
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन ?

—द्वितीय पर्व ।

यहाँ शव-दाह हो चुकने की बात कहनेवाले धर्मराज आगे इसके बिल्कुल विपरीत बात कह रहे हैं—

"रुधिर सिक्त अञ्चल में नर के खण्डित लिए शरीर,
मृतवत्सला विषण्ण पड़ी है धरा मौन, गम्भीर।
जिस मस्तक को चञ्चु मारकर वायस रहे विदार,
उन्नति-कोष जगत का था वह स्यात् स्वप्न-भाण्डार !"

आगे कहते हैं—

"यह घोर मसान, पितामह, देखिए,
प्रेत समृद्धि के आ रहे वे।
\+ \+ \+
मुरदों के कटे-फटे गात को इङ्गित-
से मुझको दिखला रहे वे।"

प्रबन्ध में आद्यन्त किसी विचार का एक रूप निर्वाह होना ही चाहिए।

## छन्दोविधान और भाषा

छन्दों के चयन में श्री दिनकर ने जिस समन्वयात्मक बुद्धि का परिचय दिया है, वह सर्वथा श्लाघ्य कही जायगी। आज के काव्य-क्षेत्र से प्रायः परित्यक्त घनाक्षरी और सवैया को उन्होंने जिस उत्साह से अपनाया है, उसी उत्साह से

आज की मुक्त-छन्दः-प्रणाली को भी कण्ठहार बनाया है। यह गुण उनके कवि-गौरव को बढ़ाता है। प्रस्तुत काव्य में, कवित्त, सवैयों की बात तो जाने दीजिए, एक दोहा भी उनकी लेखनी से मचलकर चू पड़ा है—

अन्त नहीं नर-पन्थ का, कुरुक्षेत्र की धूल,
आँसू बरसे तो यहीं, खिले शान्ति के फूल।

जहाँ जैसा भाव चित्रित करना था, कवि ने तदनुकूल छन्द का आश्रय लिया है।

कुरुक्षेत्र की भाषा काव्यानुकूल शास्त्रकवि की भाषा है। इस काव्य में भाव-काव्य की भाषा न होकर जन-भाषा या लोक-भाषा का ही प्रयोग हुआ है, जो वाच्यार्थ-प्रधान है। विषयानुकूल यही भाषा इस काव्य के लिए उपयुक्त भी है। विचारों को हृदयंगम कराने के लिए यदि लाक्षणिक पदावली का प्राधान्य इसमें होता तो विवेच्य विषय के प्रतिपादन में शैथिल्य आ जाता, न तो धर्मराज अपनी मनोगत विचार-धारा को स्पष्ट कर पाते और न भीष्म उसका समुचित समाधान करने में ही समर्थ होते। इस काव्य में छायावाद-काल से पहले की हिन्दी-कविता में प्रयुक्त भाषा मिलती है। कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्यों की भाषा यही है, जिसमें साधारण पाठक को भी विचार-बोध में किसी प्रकार का काठिन्य नहीं होता। जनता ऐसी भाषावाले काव्यों की ओर विशेष आकृष्ट होती है। यदि कुरुक्षेत्र में महाभारतीय कोई कथावस्तु होती तो यह काव्य जनता में और आदर पाता। जहाँ वीर दर्प-पूर्ण बातें कहने का भीष्म को अवकाश मिला है, वहाँ भाषा का ओजगुण चमक उठा है। देखिए—

सटता कहीं जो एक तृण भी शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फ़ुफकार है;
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं,
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुँकार है;
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है;
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध—
जड़-चेतनों का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

आज जब कविता को लोक के निकट ले जाने का विशेष प्रचार हो रहा है, तब यही-भाषा कवि के विचारों की समर्थ सन्देश-वाहिका हो सकती है। ऊपर उद्धृत छंद की चौथी पंक्ति में एक वर्ण की कमी खटकती है, पंद्रह वर्णों के स्थान पर चौदह वर्ण ही आ सके हैं, अतः गति-भंग का आना स्वाभाविक ही है।

सहज कवि अपनी परिपक्वावस्था में तब पहुँचा माना जाता रहा है जब उसकी भाषा में एक भी शब्द फालतू न आने पावे। वह फालतू शब्द न केवल अपनी व्यर्थता में दर-किनार बैठा रहता है, अपितु भाव-बोध में अथवा विचार-धारा में रोड़े भी डाल देता है। कुरुक्षेत्र के लेखक ने काफी सावधानी बरती है, हाँ, एकाध जगह वह सँभल नहीं सका है। द्वितीय सर्ग का द्वितीय छन्द देखा जा सकता है:—

"शृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरते-से
योगलीन लेटे थे पितामह गभीर-से।
× × × ×
'हाय पितामह, महाभारत विफल हुआ'
चीख उठे धर्मराज व्याकुल अधीर-से॥"

प्रथम एवं तृतीय दोनों चरणान्त में उपमा-वाचक 'से' ने आकर कवि के हृदयोत्थित अबाध भाव-धारा को बेतरह ठोकर मारी है। 'गभीर-से' ने भीष्म की गम्भीरता को उथली बना दिया है, इसी प्रकार उसने धर्मराज की अधीरता को केवल अभिनयात्मक अधीरता बनाकर काव्य-सौष्ठव को ही नष्ट कर दिया है।

संस्कृत-शब्दावली के प्रयोग से कुरुक्षेत्र का काव्य-सौष्ठव बढ़ गया है। न तो अप्रयुक्त शब्द ही अपनाए गए हैं और न अल्प-प्रयुक्त शब्दों को लाने का यत्न किया गया है। इस ओर कवि विशेष सावधान रहा है। सातवें सर्ग में एक स्थल पर 'व्योम-प्रवासी' शब्द अवश्य असावधानी से आ गया प्रतीत होता है, जो 'व्योम-निवासी' की जगह धोखे में उतर पड़ा लगता है। पूरा छन्द यों है—

"मिट्टी का यह भार सँभालो,
बन कर्मठ संन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम-प्रवासी।"

समष्टि रूप में पूरे काव्य की भाषा कवि के विचारों का भार वहन करने में पूर्ण क्षम है। दिनकर की पूर्व कृतियों से कुरुक्षेत्र की भाषा विशेष प्रौढ़ है, इसमें सन्देह नहीं।

———

# रश्मिरथी

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में इतस्ततः वर्णित महारथी कर्ण का यश सम्भवतः महाभारत पर ही आधारित रहा है। परवर्ती संस्कृत कवियों में से किसी ने भी कर्ण के उज्वल चरित्र पर लेखनी नहीं उठाई। उसके एक मात्र प्रतिद्वन्द्वी अर्जुन पर तो आगे चलकर भी काव्यों की रचना हुई, किरातार्जुनीय महाकाव्य को भारवि ने अर्जुन के वीरत्व पर लिख डाला और प्रह्लादनदेव ने 'पार्थ पराक्रम' नामक व्यायोग की रचना की। भट्टनारायण का वेणीसंहार भी पाण्डवों के शौर्य का उज्जवल स्वरूप उपस्थित करता है। किन्तु अर्जुन के ही समान अपितु उससे भी कहीं बढ़कर महान् धनुर्धर कर्ण पर किसी ने काव्य नहीं लिखा। कहीं दो-एक श्लोक में उसका उल्लेख मात्र हो गया है, जैसे, किरातार्जुनीय में एक श्लोक मात्र है—

"निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः॥"

कहने का तात्पर्य यह कि उस समय सम्भवतः जय-पराजय पर ही धर्माधर्म का निर्णय किया जाने लगा था और चाहे अनीति-ग्रहण से हो हो, विजय प्राप्त करनेवाले को ही लोग प्रशंसा का भाजन समझते रहे हैं। विजयी सर्व-गुण-सम्पन्न माना जाता रहा है, अन्यथा कर्ण जैसे धर्म-परायण, महातेजस्वी और महारथी की इस प्रकार उपेक्षा न की जाती। परवर्ती साहित्य-क्षेत्र से उपेक्षित होने पर भी कर्ण की यशोगाथा जनता की चर्चा का विषय सदा से रही है, क्योंकि जनता

यथार्थ में गुणों का ही पूजन करती है। कर्ण की अलौकिक वीरता की, महाभारत के अतिरिक्त अन्य भी श्रुतियाँ जनता में प्रचलित हैं। यदि मनुष्य का आदर गुणों पर ही आधारित रहे या रहना चाहिए तो कर्ण की चर्चा जो आज हिन्दी-साहित्य में विभिन्न प्रतिभाओं द्वारा प्रस्तुत की जा रही है, युगानुकूल मानवता की आराधना की दृष्टि से सर्वथा श्लाघ्य ही कही जायगी। वस्तुतः गुण ही मानव के यशःशरीर को स्थायित्व प्रदान करते हैं। संस्कृत-वाङ्मय में इतस्ततः ऐसे वरेण्य गुणियों की झाँकी मिलती है, जिनके द्वारा यह विदित होता है कि न जाने कितनी महान् प्रतिभाएँ कुल और वर्ण के विचार से श्रेष्ठता प्रदान करने की रूढ़ि के हाथों उपेक्षित होकर अन्धकार में विलीन हो गईं। कर्ण को भी वह उपेक्षा आजीवन सहन करनी पड़ी। कर्ण ने जो कुछ प्राप्त किया था, अपने अक्षुण्ण पुरुषार्थ द्वारा ही किया था। जन्मते ही माता द्वारा परित्यक्त और बड़े होने पर वह समाज द्वारा तिरस्कृत होता रहा। उस समय के किसी प्रधान व्यक्ति द्वारा उसे प्रशंसा और प्रोत्साहन नहीं मिला। गुरु द्रोण जैसे वीर पुरुष शूद्र होने के विचार से उसे शिष्यत्व प्रदान करने से रहे। शस्त्राभ्यास के लिए उसे इधर-उधर भटकना पड़ा। भार्गव राम से असत्य का आश्रय लेकर उसने शस्त्रास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया और अपनी चरम गुरु-भक्ति के पुरस्कार में उसे मिला प्राणापहारी शाप। ऐसे प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न, शिशिक्षु एवं जिज्ञासु बालक को तो प्राणोपम शिष्य बनाकर कोई यशस्वी हो सकता था, अपने अनन्य शिष्य पर गर्व कर सकता था, किन्तु परम्परा-बद्ध मानवता-विहीन विचारों वाले संस्कार के कारण कर्ण एक भी योग्य गुरु का कृपा-भाजन नहीं बन सका। इस अपमान का विषमय घूँट पीकर भी वह मूर्धन्य धार्मिक हुआ। ब्राह्मणों के प्रति उसकी श्रद्धा अखण्डित ही बनी रही। युद्ध के अतिरिक्त दान के क्षेत्र में भी वह अतुलनीय वीर अन्त तक बना ही रहा। छद्मवेशधारी देवराज इन्द्र को अपना अक्षय कवच और कुण्डल देकर उसने देवत्व पर भी विजय प्राप्त की। जिस पितामह भीष्म ने उसे जीवन भर हतोत्साह करने का ही बीड़ा-सा उठा लिया था, समराङ्गण में जाने के पूर्व वह उनके भी चरणों पर मत्था टेकना नहीं भूल सका, उनकी भी उसने उपेक्षा नहीं की। शर-शय्या पर लेटने के पश्चात् भीष्म ने दुर्योधन को सन्धि कर लेने का उपदेश दिया, अर्जुन और कृष्ण की प्रशंसा करके उनको हतोत्साह भी किया तथा यह प्रस्ताव किया कि मेरी मृत्यु से ही युद्ध समाप्त हो जाना चाहिए, अधिक नर-संहार अच्छा नहीं। सब के चले जाने पर उनके गिरने का समाचार पाते ही कर्ण दौड़ा हुआ उनके सम्मुख संकुचित भाव से पहुँचा और बोला—

"राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र.......... ॥"

अर्थात् आपकी आँखों में नित्य खटकनेवाला मैं राधेय हूँ, जिससे आप सर्वत्र द्वेष ही रखते थे। यह सुनकर पितामह ने सभी रक्षकों को वहाँ से हटा दिया और एकांत में कर्ण को गले लगा लिया। फिर उसे बताया कि तुम राधा के पुत्र नहीं, कुन्ती के पुत्र हो, तुम्हारे पिता सूर्य देव हैं। मुझे तुमसे किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं है, यह मैं सत्य कहता हूँ। मैंने तुम्हारा तेज घटाने के लिये तुमसे कठोर वचन कहे थे। अस्त्र-विद्या में तुम अर्जुन और कृष्ण से तनिक भी घटकर नहीं हो। तुम्हारे समान पुरुष संसार में नहीं हैं। ये सारी बातें जानते हुए भी पाण्डवों तथा कौरवों में फूट न पड़ जाय, इसी भय से मैंने तुम्हें अर्द्धरथी कह डाला था। अन्यथा तुम्हारा पराक्रम तो विश्व विश्रुत है ही। किन्तु अब दोनों पक्षों में सन्धि करा दो, यही मेरी अन्तिम इच्छा है—

"न च द्वेष्योऽसि मे तात त्वयि सत्यं ब्रवीमि ते ॥
तेजोवध निमित्तं तु परुषं त्वाऽहमब्रुवम् ।
जानामि समरे वीर्य्यं शत्रुभिर्दुस्सहं भुवि ।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमांस्थितिम् ॥
न त्वया सदृशः कश्चित्पुरुषेष्वमरोपम ।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ॥
इष्वस्त्रे चास्त्रसन्धाने लाघवेऽस्त्रबले तथा ।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ॥
सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन ॥
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥"

कर्ण ने कहा था कि मैं सब जानता हूँ, किन्तु जैसे कृष्ण पाण्डवों के लिए धन, शरीर, पुत्र, स्त्री और यश सवस्व देने को तत्पर रहते हैं, वैसे ही मैं भी दुर्योधन द्वारा उपकृत होकर अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर चुका हूँ और क्षत्रियों के लिए रोग से मरना भी तो शोभा की बात नहीं है। दूसरे, जो युद्ध अवश्यम्भावी है उसे कोई लाख यत्न करने पर भी हटा नहीं सकता। आप लोगों ने पृथ्वी के महा-विनाश-सूचक उत्पात भी देखे हैं और कुरु-सभा में उन्हें बताया भी था। अतः इस हत्याकाण्ड को कोई अब रोक नहीं सकता—

"भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥
वसुदेव - सुतो यद्वत्पाण्डवाय दृढ़व्रतः ।

वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण।
मा चैतद्व्याधि - मरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ॥

\+ + +

दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत ॥

\+ + +

अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्ध्येयमिति मे मतिः ॥"

अन्त में भीष्म की अनुमति पाकर कर्ण युद्धार्थ जाता है। युद्ध में जाते समय भी वह भीष्म की आज्ञा लेकर जाता है।

कुरुवृद्ध धृतराष्ट्र ने कर्ण के विषय में कहा था—

"कर्णो ह्येको महाबाहुर्हन्यात्पार्थान्ससृञ्जयान्।
कर्णस्य भुजयोर्वीर्यं शक्रविष्णु-समं युधि ॥"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्ण की शूरता और युद्ध कुशलता की प्रशंसा करते हुए अर्जुन को सावधान किया था—

"मावमंस्था महाबाहो कर्णमाहव - शोभिनम्।
कर्णो हि बलवान्दृप्तः कृतास्त्रश्च महारथः ॥
कृती च चित्रयोधी च देशकालास्त्र-कोविदः।
बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपाच्छृणु पाण्डव ॥
त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम्।"

अन्त में अर्जुन की प्रशंसा द्वारा उन्हें उत्साहित करते हुए युद्ध करने को कहा था। कृष्ण जानते थे कि कर्ण अर्जुन से भी बढ़कर है, इसीलिए वे अर्जुन को निरन्तर उससे बचाकर रथ को इधर-उधर कावा कटाते फिरा करते थे और द्विरथ युद्ध में अनेक बार अर्जुन के प्राणों की रक्षा अपने बुद्धि-कौशल द्वारा की थी। कर्ण और अर्जुन भी एक-दूसरे की अप्रतिमता के प्रशंसक रहे हैं।

अतः ऐसे सच्चे वीर एवं मानवता के मुख को उज्ज्वल करनेवाले आदर्श पुरुष कर्ण पर काव्य-रचना हिन्दी भाषा के गौरव की बात है। श्री दिनकर ने सदर्थ में रश्मिरथी को एक सफल प्रबन्ध का रूप दिया है। आज के युग में पश्चिम की नकल पर चलनेवाले प्रबन्ध-रचना को एक दकियानूसी ख़याल की देन कहा करते हैं। किन्तु सच तो यह है कि सच्चे कवि की कसौटी प्रबन्ध रचना ही है।

## विषय-वस्तु

जातिवाद को माननेवाले भारत देश में जनता केवल जातीय श्रेष्ठता को ही स्वीकृति नहीं देती रही है अर्थात् किसी वर्ण-विशेष में जन्म लेने के ही कारण कोई पूज्य या त्याज्य नहीं माना जाता रहा है, यहाँ गुणों की उपासना सदा से होती आई है। इस गुण-ग्राहिका वृत्ति के कारण ही राम और कृष्ण ब्राह्मणों के भी उपास्य हो गए अथच उन्हें मानवों की श्रेणी से ऊपर उठाकर ईश्वरत्व के पद-पर प्रतिष्ठित किया गया और तपस्तेजोहीन ब्राह्मण-कुलोद्भूत व्यक्ति को शूद्रत्व प्रदान करने की घोषणा की गई—

"योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"—मनु।

सच तो यह है कि रथ-निर्माण में यदि सभी काष्ठ खण्ड इसी बात को लेकर परस्पर विवाद करने लगें कि हम चक्र में क्यों जायँ, हम शीर्ष में ही रहेंगे, तो रथ कभी बन ही न सके और उससे काम लेने की बात तो दूर ही छूट जाती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों के संचालन के अभ्यास और उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त करने के लिए ही समाज की पुष्टि एवं उसकी सम्यक् गतिशीलता के रक्षण की दृष्टि से चतुर्वर्णों की सृष्टि हुई। सभी अपने-अपने स्थान पर श्लाघ्य रहे, सभी की अपनी विशिष्ट महत्ता थी। स्वस्थानरक्षण की क्षमता के अभाव में कोई-कोई स्थान-च्युत करके अन्यत्र प्रतिष्ठित कर दिए जाया करते थे। इसी प्रकार गुणोत्कर्ष को देखकर विशिष्ट व्यक्ति योग्यतानुसार स्थान-प्राप्ति से वंचित नहीं किए जाते थे। इसके अनेक प्रमाण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। संगति से भी व्यक्तियों के परम्परा-प्राप्त संस्कार बदला करते हैं। केवल संगति के कारण ही कितने अकुलीन जन महर्षि के पद पर सर्व-सम्मति से आरूढ़ माने गए। यथेच्छाचार से होनेवाली सामाजिक विच्छृङ्खलता को ध्यान में रखकर कुछ नियम और मर्यादा के बन्धन के बिना किसी भी समाज का कार्य सुचारु रूप से चल नहीं सकता। समाज के सभी व्यक्तियों को एक ही कर्म की शिक्षा तो नहीं दी जा सकती। परम्परा-द्वारा प्राप्त परिचित पथ को जिस मनोयोग से बालक ग्रहण करेगा, एक अपरिचित पथ पर चलने में उसका पद-स्खलन स्वाभाविक ही है। अतः अनुशासन तो एक अनिवार्य आवश्यकता हुई। हाँ, भारतीय संस्कृति में घृणा के लिए सदा से अनवकाश रहा है। भारत में मानव की मानव के प्रति घृणा की शिक्षा विदेशी है, संक्रामक रोगों से यहाँ अवश्य घृणा की जाती रही है। जब तक मानव जाति रहेगी तब तक गुणों की अवहेला नहीं की जा

सकेगी। गुण तो लोगों की दृष्टि सहज ही आकृष्ट कर लेता है। 'अकबर' ने लोक-हृदय की बात ही कही है—

"निगाहें कामिलों पर पड़ ही जाती हैं ज़माने की,
कहीं छिपता है 'अकबर' फूल पत्तों में निहाँ होकर ॥"

अस्तु। कर्ण मानवता के सम्पूर्ण गुणों से समलंकृत थे। वे एक असाधारण पुरुष थे। वे अपने समय के कतिपय महान् पुरुषों में अन्यतम थे। दान और युद्ध-भूमि में अद्वितीय थे, यह श्रीकृष्ण पाण्डव-पक्ष में होते हुए भी मानते थे। पितामह भीष्म ने उनमें एक ही दोष दिखाया था, जिसके दायी वे नहीं थे, अर्थात् उनका जन्म धर्म-लोप से हुआ था, यही उनमें एक दोष था—

"जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ॥"

दुर्योधन के साथ उनकी मित्रता असाधारण एवं उनके जैसे महामना व्यक्ति के योग्य ही थी। दुर्योधन को पाण्डवों से सहज शत्रुता थी, अतः यह ज्ञात होने पर भी कि पाण्डव उनके सोदर भ्राता हैं, कर्ण की मैत्री में तनिक भी शैथिल्य नहीं आ सका था। भीष्म ने कर्ण को तेजोहत करने के लिए उनका अपमान किया था। अतः जब तक भीष्म कौरव-सैन्य का संचालन करते रहे तब तक उन्होंने युद्ध में सम्मिलित न होने की प्रतिज्ञा कर ली थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि यदि पितामह दुर्योधन को विजय-श्री दिला देंगे तो मैं वन में तपस्या करने चला जाऊँगा और यदि वे युद्ध में काम आ जायँगे तो मैं स्वयं पाण्डवों का संहार करके विजय-माला दुर्योधन को पहनाऊँगा। अतः जब उन्होंने सुना कि भीष्म मारे गए तब कौरवों की रक्षा के लिए वे उसी प्रकार दौड़ पड़े जिस प्रकार पिता पुत्रों की रक्षा करने को दौड़ पड़ता है—

"हते तु भीष्मे रथसत्तमे परैर्निमज्जतीं न्नावमिवाऽर्णवे कुरून्।
पितेव पुत्रांस्त्वरितोऽभ्ययात्ततः सन्तारयिष्यंस्तव पुत्र-सेनाम् ॥"

सभी ने कर्ण को हतोत्साह किया, किन्तु उन्हें अपने पर पूर्ण विश्वास था। उनके शौर्य को पाण्डव भी जानते थे और धर्मराज ने तो कहा भी था कि वन-वास के तेरह वर्षों में कर्ण के भय से न रातों में उन्हें चैन की नींद आई और न दिन में उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। ऐसे मनस्वी, निष्कलंक-चरित्र व्यक्ति की उज्ज्वल गाथा जब द्वैपायन व्यास ने पूर्ण हार्दिकता एवं मनोनिवेशपूर्वक गाई, जिसे देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्ण उनका अत्यन्त प्रिय पात्र रहा है, तब आधुनिकों को उसे अपनाने में हिचक का कोई कारण ही नहीं है। अज्ञात-

कुल-शील महात्मा कबीर को क्या कोई घृणा की दृष्टि से देखता है ? उन पर भी तो ग्रन्थ-रचना अबाधगति से हो ही रही है।

कविवर 'दिनकर' ने कर्ण के जीवन के कतिपय ज्वलन्त पृष्ठ अपनाए हैं। 'रश्मिरथी' काव्य सात सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में बालक कर्ण का एक अत्यंत आकर्षक धनुर्धर का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। रंग-भूमि में जब अर्जुन अपनी धनुर्विद्या का प्रदर्शन करके समस्त नागरिकों के नेत्रों का केन्द्र बन रहा था, ठीक उसी अवसर पर भीड़ को चीरता हुआ वही कर्ण धनुष-बाण लिए आ उपस्थित होता है, जिसने गुरु द्रोण द्वारा तिरस्कृत किए जाने पर एकान्त में एकलव्य के समान स्वयं शस्त्राभ्यास किया था। कर्ण की कुशलता देखकर लोगों को अर्जुन का प्रदर्शन हल्का प्रतीत हुआ। उसकी इस असाधारण कला को देखकर जन-साधारण द्वारा उसे प्रशंसा अवश्य प्राप्त हुई, किन्तु समाज के महापुरुषों के मुँह शोक से लटके ही रह गए, किसी ने उसे साधुवाद नहीं दिया। उस समय युवक दुर्योधन ही एक ऐसा व्यक्ति दिखाई पड़ा, जिसने गुण का सम्मान किया। और जब अर्जुन की प्रतिद्वन्द्विता की योग्यता की तराजू पर 'राजत्व' की बाट रख दी गई तब तुरत दुर्योधन ने अङ्ग देश का राज्य देकर कर्ण की उस कमी की पूर्ति भी तत्काल कर दी। यहीं से कर्ण और दुर्योधन की मित्रता की जड़ बँध जाती है और यहीं से कर्ण, अपनी शूरता, आत्माभिमान, तेजस्विता की एक आँधी दिखाते ही गुरुद्रोण, पाण्डवों के प्रथम शस्त्र-गुरु कृपाचार्य, भीष्म और पाण्डवों का सिरदर्द भी बन जाता है।

द्वितीय सर्ग में, अपने को ब्राह्मण-कुमार बतलाकर कर्ण महर्षि परशुराम से शस्त्रास्त्र की पूर्ण शिक्षा प्राप्त करता है, किन्तु विषकीट के कारण उसका भेद खुलने पर परशुराम से उसे यह शाप भी मिल जाता है कि अन्तिम समय में ब्रह्मास्त्र की शिक्षा उसे विस्मृत हो जायगी। शिष्य की महती योग्यता और शील का ध्यान करके परशुराम उसे वर भी देते हैं कि भारत का इतिहास उसके उज्वल चरित्र से और भी उज्वल हो जायगा।

तृतीय सर्गमें, पाण्डव तेरह वर्षों के वन-वास को पूर्ण करके लौटते हैं, श्रीकृष्ण को दूत बनाकर सन्धि-प्रस्ताव भेजते हैं और अन्त में निराश होकर लौटते समय श्रीकृष्ण कर्ण को रथ पर बिठा उसके जन्म की बात उसे बताकर पाण्डवों से मिल जाने को कहते हैं, किन्तु कर्ण अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहकर बड़ी नम्रता एवं मानवोचित तर्क द्वारा उनके प्रस्ताव की उपेक्षा कर देता है।

चतुर्थ सर्ग में, इन्द्र ब्राह्मण वेश में कर्ण के पास जाकर उससे अक्षय कवच

और कुण्डल माँग लेते हैं। तत्काल ही उसके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे एकघ्नी शक्ति भी दे जाते हैं।

पाँचवें सर्ग में, कुन्ती कर्ण के पास छिपकर जाती है। उसके जन्म का आख्यान सुनाकर अपने भाइयों के साथ उससे मिल जाने का अनुरोध करती है। अन्त में अर्जुन को छोड़कर शेष चार पाण्डवों को न मारने की प्रतिज्ञा कराकर वह लौट आती है।

षष्ठ सर्ग में, भीष्म और कर्ण का वार्तालाप और भीष्म की आज्ञा लेकर कर्ण का युद्ध के लिये प्रस्थान वर्णित है और सप्तम सर्ग में, कर्ण की अद्भुत युद्ध-कला का वर्णन तथा अन्त में निःशस्त्रावस्था में रथ का धरती में गड़ा हुआ चक्र निकालते समय कृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन द्वारा अधर्मपूर्वक कर्ण का वध वर्णित है। इस प्रकार सात सर्गों के इस प्रबन्ध में कर्ण के जीवन का प्रायः पूर्ण स्वरूप उतार लिया गया है।

## चरित्र-निर्वाह

### कर्ण : उद्योग

कर्ण ने एक कुमारी राजकुमारी के गर्भ से जन्म लिया। उसके पिता थे विकर्तन—सूर्य। जननी ने समाज के भय से नवजात शिशु को मञ्जूषा में रखकर अश्व नदी की धारा में प्रवाहित कर दिया और पिता ठहरे द्युलोक-वासी, वे भला पुत्र का रक्षण-पोषण करते ही कैसे? इस प्रकार कर्ण को जननी-जनक दोनों के स्नेहाञ्चल की छाया से जन्म से ही वञ्चित हो जाना पड़ा। उसका लालन-पालन हुआ एक सारथी-दम्पति द्वारा। राधा बनी उसकी माता, और कौन्तेय राधेय के नाम से जाना जाने लगा। कर्ण पला तो एक सारथी के घर में, किन्तु जननी-जनक से उपलब्ध संस्कारवश उसने सारथी न बनकर बनना चाहा अद्वितीय योद्धा। महत्त्वाकांक्षा को लिये हुए ही वह उत्पन्न हुआ था, अतः गुरु द्रोण का शिष्यत्व प्राप्त न कर सकने पर उसने निर्जन में निस्संग रहकर धनुर्विद्या का अभ्यास किया। पाण्डव और कौरव युवकों ने क्रमशः कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के शिष्यत्व में धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करनी आरम्भ की। इनमें अर्जुन ही अद्वितीय निकला। गुरु की शिक्षा का यथावत् ग्रहण केवल अर्जुन करता था, अतः वह स्वभावतः गुरु के स्नेहाधिक्य का अधिकारी हो गया। गुरुद्रोण की यह बद्धमूल कामना थी कि विश्व में अर्जुन ही अद्वितीय रहे। अतः अन्य जो भी नूतन वृक्ष अर्जुन को दबा लेने योग्य शाखाएँ फैलाता, उसकी शाखाएँ ही

कतर दी जातीं। इस प्रकार जाने कितने एकलव्य कतर दिये गये होंगे और अर्जुन तो अपना स्वाभाविक विकास करता ही रहा। जिस गुरु ने कर्ण का तिरस्कार किया था उसके गर्व के मूल को ही कुचल देने की कर्ण ने मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली थी और अपने सततोद्योग से विराट् जन-समूह के बीच अर्जुन से भी अपने को योग्य सिद्ध करके उसने गुरुद्रोण का उपहास भी किया। उसने सिद्ध कर दिया कि कुल-गौरव से औद्योगिक गौरव श्रेष्ठ है अर्थात् भाग्य से कर्म का स्थान ऊँचा है। उसने अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा भी, किन्तु उपस्थित गुरुजनों ने उसकी योग्यता को परखकर अर्जुन को अनुज्ञा ही नहीं दी। अपनी झेंप को मिटाने के लिए आचार्य कृप के माध्यम से यह कहकर कर्ण को हतोत्साह किया गया कि यतः वह अज्ञात-कुल-शील है, अतः वह एक राजकुमार की समता करने का अधिकारी नहीं है। किन्तु छूटते ही उसने वैसा ही विषबुझा उत्तर भी दिया कि अन्य श्रोतागण की प्रसन्नता के साथ ही साथ भीष्म, द्रोण और कृप को अवाक् रह जाना पड़ा। कवि ने तत्कालीन समाजकी गुण-ग्राहिता-विरोधिनी एवं पक्षपातिनी वृत्ति पर गहरा व्यंग्य किया है —

"जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाषण्ड,
मैं क्या जानूँ जाति ? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।
सूत-पुत्र हूँ मैं, लेकिन थे पिता पार्थ के कौन ?
हिम्मत हो तो कहो, शर्म से रह जाओ मत मौन।
अधम जातियों से थर-थर काँपते तुम्हारे प्राण,
छल से माँग लिया करते हो अंगूठे का दान।"

कहते हैं कि दुर्योधन ने पाण्डवों से नीचतापूर्ण व्यवहार किया, किन्तु द्रोणादि ने एकलव्य तथा कर्ण के साथ कौन-सा शिष्ट व्यवहार किया, केवल पाण्डवों के उत्कर्ष के निमित्त ? दुर्योधनने एक गुण-ग्राही मानव की भाँति कर्ण का समुचित सत्कार किया और अङ्ग देश का राजा बनाकर औरों के समक्ष उसका सिर ऊँचा करने में सहायता देकर द्रोणादि के अन्याय पर एक घातक प्रहार किया। मानवता मानवता की ओर खिंचती है। समुचित अवसर पर अपनी मानवता का परिचय देकर सुयोधन ने कर्ण के हृदय-देश पर अपना एकच्छत्र राज्य प्रतिष्ठित कर लिया, उपेक्षित को अपनाकर उसे अपना बना लिया।

गुरु द्रोण से तिरस्कृत होने पर अपने अभ्यास से कर्ण ने जो कुछ प्राप्त किया उतने पर ही सन्तोष करके वह बैठा नहीं रहा, अपितु जिससे द्रोण ने धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी, उसी को गुरु बनाने का उसने भी निश्चय किया।

किन्तु वहाँ के शिष्यत्व प्राप्त करने की शर्त और भी कठिन थी और उसे पूरी करना कर्ण के वश की बात न थी। तत्कालीन क्षत्रियों के अन्याय-प्रशमन की उत्कट कामनावाले, लोक-हितैषी एवं त्यागी योग्य ब्राह्मण-कुमार को ही धनुर्वेद की शिक्षा देने की भार्गव राम की प्रतिज्ञा थी। कर्ण में अन्याय का विरोध, उच्च-कोटि का शील, तेजस्विता एवं योग्यता सभी गुण विद्यमान थे, किन्तु ब्राह्मणत्व वह कहाँ से ले आवे? और बिना ब्राह्मणत्व अपनाए उसकी महत्वाकांक्षा की तुष्टि असम्भव थी। अतः शिक्षा-प्राप्ति की उद्दाम कामना की पूर्ति और अर्जुन से अधिक योग्यता प्राप्त कर उसे नीचा दिखाने की महत्त्वाकांक्षा की रक्षा के लिए उसे विवश होकर असत्य का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। असत्य का आश्रय ग्रहण करने में उसका अपना स्वार्थ-साधन ध्येय नहीं था, क्योंकि युद्ध में विजय प्राप्त करके निष्कंटक सिंहासन पर अपने एकमात्र उपकारी एवं अपनी दृष्टि में मानवता के एकमात्र उद्धारक सुयोधन को प्रतिष्ठित करके तपश्चर्या के लिए वन में चले जाने की उसने पहले ही प्रतिज्ञा कर ली थी।

कर्ण में शील, आज्ञाकारिता, शिक्षा के प्रति एकाग्रता, आचार की पवित्रता एवं धर्म-निष्ठा उस कोटि की थी कि भार्गव को उसके ब्राह्मणत्व पर कभी सन्देह करनेका अवकाश ही नहीं मिल पाया। और जिस लगन से गुरु ने उसे शिक्षा दी थी, उसी निष्ठा के साथ उसने अल्पकाल में ही शस्त्र के साथ-ही-साथ पर्याप्त शास्त्र-ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। उसके हस्त-लाघव पर मुग्ध होकर गुरुदेव जब भी 'ब्राह्मण-कुमार' सम्बोधन द्वारा उसे साधुवाद देते थे, तब-तब वह पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने लगता था। असत्य का आश्रय लेकर मंगलमयी कार्य-सिद्धि पर ही उसकी दृष्टि नहीं थी, साधन की कलुषता उसके हृदय को मथे डालती थी। कवि ने परशुराम के सिर को अङ्क में रखे कर्ण के आत्मचिन्तन में जो कुछ कहलाया है, उससे उसके हृदय की निश्छलता का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। कर्ण में ब्राह्मणोचित त्याग, तपस्या, संयम, करुणा, दया आदि सभी गुण थे, फिर भी यदि वह जन्मजात ब्राह्मण नहीं हुआ तो इसमें उसका क्या दोष? यह तो समाज का ही दोष है जो सच्चे गुणों का आदर न करके जाति के आधार पर उच्चता-नीचता का निर्धारण करता है। ऐसे समाज पर किसी भी मानवता के अभिमानी का रोष स्वाभाविक ही कहा जायगा:—

"धँस जाये वह देश अतल में गुण की जहाँ नहीं पहचान,
जाति-गोत्र के बल से ही आदर पाते हैं जहाँ सुजान।
नहीं पूछता है कोई, तुम व्रती, वीर या दानी हो?
सभी पूछते सिर्फ यही तुम किस कुल के अभिमानी हो।

मगर मनुज क्या करे? जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,
चुनना जाति और कुल अपने बस की तो है बात नहीं।
मैं कहता हूँ, अगर विधाता नर को मुट्ठी में भरकर,
कहीं छींट दें ब्रह्म-लोक से ही नीचे भू-मण्डल पर।
तो भी विविध जातियों में ही मनुज यहाँ आ सकता है,
नीचे हैं क्यारियाँ बनी तो बीज कहाँ जा सकता है?"

## गुरु-भक्ति

कर्ण की असीम गुरु-भक्ति के प्रमाण के लिए एकमात्र विषकीट का आख्यान पर्याप्त है। गुरुदेव धनुर्विद्या का अभ्यास कराकर परिश्रान्त हो गए हैं। वे कर्ण की जाँघ के ही उपधान पर सिर रखकर लेट जाते हैं। एक तो तपस्वी, दूसरे शिष्य को बाण-विद्या का अभ्यास कराने का कठिन श्रम और तीसरे वयोवृद्ध, उन्हें निद्रा आ जाती है। अभी उनकी आँखें लगे थोड़ी ही देर हुई होगी कि विषकीट आकर नीचे से कर्ण की जाँघ काटने लगता है। उसे पीड़ा होती है, पर हिलता तक नहीं। श्रान्त गुरुदेव की निद्रा भङ्ग न हो, उनकी विश्रान्ति में मेरे कारण व्याघात उपस्थित न हो, यही सोचकर वह तब भी हिलता नहीं जब कि कीड़ा उसकी जाँघ में छेद करके भीतर घुस जाता है और उस छिद्र से रक्त-प्रवाह चल पड़ता है। धन्य है ऐसी गुरु-भक्ति!

उस रक्त-धारा के शीतल स्पर्श से गुरु-देव की निद्रा टूट जाती है और जब वे जागकर यह दृश्य देखते हैं तब अपने शिष्य की सहन-शक्ति का अनुमान करके चकित रह जाते हैं! किन्तु कर्ण की यह गुरु-भक्ति ही उसकी रहस्योद्घाटिनी हो जाती है और उसे गुरु का कोप-भाजन बनना पड़ता है। फिर भी वह गुरु के उस अदम्य क्रोध के परिणाम को सहर्ष सिर झुकाकर झेलने को प्रस्तुत हो जाता है। शाप देने के पूर्व कर्ण के शील-सौजन्य को सोचकर-देखकर अत्युग्र-स्वभाव भार्गव की आँखें भी स्नेहार्द्र हो उठी थीं। उन्होंने कर्ण के विषय में अपनी राय दी थी—

"देखे अगणित शिष्य, द्रोण को भी करतब कुछ सिखलाया,
पर, तुझ-सा जिज्ञासु आज तक कभी नहीं मैंने पाया।"

अर्थात् कर्ण ने द्रोण से कहीं अधिक धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। कर्ण का एक मात्र ध्येय अर्जुन के अभिमान को चूर करके दुर्योधन के उपकार का

बदला कई गुना करके चुकाना था। घोर शाप पाने की कल्पना करते हुए उसके समक्ष उसका एकमात्र ध्येय नाच उठता है—

"गुरु की कृपा शाप से जलकर अभी भस्म हो जाऊँगा,
पर, मदान्ध अर्जुन का मस्तक, देव! कहाँ मैं पाऊँगा?"

और ऐसे योग्य शिष्य को विना वर-दान दिए उनके चित्त को शान्ति भी नहीं मिली—

"अच्छा, लो वर भी कि विश्व में तुम महान कहलाओगे,
भारत का इतिहास कीर्ति से और धवल कर जाओगे॥"

## मित्रता

मानव का सम्बन्ध यों तो सम्पूर्ण समाज के साथ रहता है, किन्तु परिवार का सम्बन्ध उसका सब से निकट का बन्धन है। इसीलिए पारिवारिक जनों के साथ जो स्नेह-बन्धन होता है, उसे ही सहज प्रेम कहा जाता है। परिवार में भी जिससे जितना ही सामीप्य होता है, उसे प्रेम-क्षेत्र में उतना ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त होता है। माता का स्थान केवल इसीलिए सर्वोच्च नहीं माना गया है कि वह जननी होती है, वरञ्च उसका स्थान इसलिए सर्वोच्च होता है कि पुत्र का उससे सबसे निकट का सम्बध होता है। मात्र स्तन्य-दान ही नहीं, वह सहर्ष अपने जीवन-त्याग द्वारा पुत्र को जीवन-दान देती है। अतः माता का वात्सल्य और पुत्र की मातृ-भक्ति सहज मानी गई है, प्राकृतिक कही गई है। पिता, भ्राता आदि के प्रति प्रेम या स्नेह का स्थान उससे नीचे धरातल का होता है। इन सबकी अपेक्षा मित्र का सम्बन्ध दूर का होता है। वह न तो परिवार की अपेक्षा रखता है, न वंश की, न जाति की, न धर्म की और न ही देश की। उसका सम्बन्ध लौकिक न होकर अलौकिक होता है। अतः मित्र-प्रेम को हम अलौकिक प्रेम कह सकते हैं। यह चर्म-चक्षु द्वारा दृष्ट गुणों का भेदन करके अन्तर्दृष्टिग्राह्य उन सूक्ष्म गुणों पर आधारित होता है, जिनके समक्ष स्थूल गुण अत्यन्त लघु एवं नगण्य प्रतीत होते हैं, यही इसकी लोकोत्तरता का रहस्य है।

श्रीकृष्ण द्वारकाधीश थे और अर्जुन एक प्रशंसित राजकुमार। अतः इनकी मैत्री बाह्यगुणाश्रित ही कही जायगी। अर्जुन जैसे वीर की अधिकारहीनता एवं वनवासादि - जन्य दुःख को देखकर श्रीकृष्ण के हृदय का उसकी ओर और अधिक आकृष्ट हो जाना सहज हो सका था। किन्तु मैत्री के मूल में स्थित अर्जुन

का क्षात्र गुणयुक्त राजकुमारत्व, मैत्री की अलौकिकता पर विचार करते समय उपलक्षणीय वस्तु नहीं। इसके विपरीत जब हम दुर्योधन और कर्ण की मैत्री पर दृष्टि-निक्षेप करते हैं तब उसका स्थान श्रीकृष्णार्जुन मैत्री से कहीं उच्च एवं लोकोत्तर प्रतीत होता है। कर्ण का वास्तविक जन्म-वृत्त एक-दो प्रमुख व्यक्तियों को छोड़कर किसी को भी विदित नहीं था। सभी यही जानते थे कि वह एक साधारण सारथी का पुत्र है। अतः सूर्य के सदृश तेजोमण्डित होने पर भी ऊँचे समाज द्वारा इनकी उपेक्षा ही होती रही। कौरवों एवं पाण्डवों द्वारा शस्त्र-विद्या के प्रदर्शन के अवसर पर जब अपार जन-समूह एकत्र हुआ था, सबने अपनी-अपनी कला दिखाई। अर्जुन ने आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र और वारुणास्त्र के अपूर्व कौशल दिखाकर जनता को मुग्ध कर लिया। अर्जुन के समान धनुर्धर वहाँ कोई भी नहीं था। छोटे से बड़े तक सभी विस्मित टकटकी लगाए उन्हीं को देख रहे थे। इतने में ही उपस्थित जन-समूह में से निकलकर एक युवक अप्रत्याशित रूप से मैदान में आ खड़ा हुआ और उसने अर्जुन द्वारा प्रदर्शित सारी कलाएँ उनसे भी उत्तम रूप में सबके समक्ष प्रस्तुत कीं, साथ ही उनसे भी विशिष्ट कुछ और भी करतब दिखाए। अब कर्ण ही जनता की आँखों का केन्द्रविन्दु बन गया। जनता तो हर्षातिरेक में निमग्न हो गई, किन्तु यह जानकर कि वह अधिरथ सारथी का पुत्र है, अभिजात-वर्ग के लोगों के आभिजात्याभिमान को गहरी ठेस लगी। यदि उनकी चलती तो कर्ण, अपने वरेण्य गुणों के कारण, जो सद्वंशजात जनों की दृष्टि में दोष ही थे, तलवार के घाट उतार दिया गया होता। अतः किसी भी सद्वंशजात पुरुष ने उसे साधुवाद नहीं दिया। उस जन-समुदाय में केवल दुर्योधन ही ऐसा था जिसकी अन्तर्दृष्टि कर्ण के गुणों की उपेक्षा न कर सकी। वह साधुवाद देता हुआ आगे बढ़ा और उसने कर्ण को गले से लगा लिया। जब कर्ण ने अर्जुन को द्वन्द्व-युद्ध के लिए चुनौती दी, तब तो कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म आदि के सिर पर गाज गिर पड़ी और अर्जुन के परित्राण के लिए राज्य-प्राप्ति की शर्त रखकर अवसर को हटा देने की युक्ति भी ढूँढ निकाली गई। दुर्योधन लोकोत्तर गुणों के ऐसे अपमान को नहीं सहन कर सका और उसने सबके समक्ष कर्ण को अङ्गदेश का राजा घोषित करते हुए उसे अपना राज-मुकुट पहना दिया। दुर्योधन की इस गुण-ग्राहकता से प्रमुदित होकर जनता दुर्योधन और कर्ण का जयकार करने लगा।

रूढ़िवादी समाज द्वारा प्रदत्त जिस मानवाधिकार से कर्ण वंचित किया जा रहा था, अपने माता-पिता का परिचय देने में ईषद्ग्लानि से खिन्न हो रहा था, दुर्योधन ने अपनी उदार हार्दिकता द्वारा उस अधिकार को सहज ही दे

डाला। इतना ही नहीं कर्ण की प्रशंसा करते हुए उसने तथाकथित उच्चताभिमानियों को फटकारा भी। एक अभिजात - वंशोद्भूत सम्राट् होते हुए भी दुर्योधन ने ऊँचे वर्ग की दृष्टि में नीच कर्ण को राज्य ही नहीं, हृदय भी दे डाला। अतः मानवताकार कर्ण भी इस लोकोत्तर गुणविशिष्ट दुर्योधन के हाथों उस दिन स्वेच्छा से बिक गया।

जब कर्ण के अप्रतिम शौर्य, तेजस्विता और युद्ध-कला से हतप्रभ होकर कृपाचार्यादि जातिवाद के नाम पर उसे अपमानित करके अपने मन की झेंप मिटानी चाह रहे थे, तभी दुर्योधन कर्ण की ढाल बनकर सामने आजाता है और बड़ी खरी-खरी बातें उन अपमानकारियों को सुनाकर सबके समक्ष कर्ण की श्रेष्ठता वचन और कर्म से सिद्ध कर दिखाता है। वह कहता है—

"मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रणधीरों का?
पाते हैं सम्मान तपोबल से धरती पर शूर,
जाति-जाति का शोर मचाते केवल कायर, क्रूर,।
किसने देखा नहीं कर्ण जब निकल भीड़ से आया,
अनायास आतङ्क एक सम्पूर्ण सभा पर छाया?
कर्ण भले ही सूतपुत्र हो अथवा श्वपच, चमार,
मलिन, मगर, उसके आगे हैं सारे राजकुमार।"

अब वचनानुसार ही दुर्योधन का कर्म भी देखिए—

"बिना राज्य यदि नहीं वीरता का इसको अधिकार,
तो यह मेरी खुली घोषणा सुने सकल संसार।
अंगदेश का मुकुट कर्ण के मस्तक पर धरता हूँ,
एक राज्य इस महावीर के हित अर्पित करता हूँ।"

दुर्योधन की इस घोषणा में, हृदय के निश्छल उद्गार में, मानवता की प्रतिष्ठा और उसका जय-घोष भी अन्तर्निहित है। इस मानवता की शुद्ध उपासना ने पूर्ण मानवता के प्रतीक कर्ण के मनोराज्य पर एकाधिकार कर लिया था, राज्य-सुख के लोभवश कर्ण ने दुर्योधन को अपना मित्र नहीं बनाया था। और इतने त्याग के प्रति भी सुयोधन में किसी प्रदर्शनात्मक अभिमान का लेश नहीं आया था, वह तो कर्ण के गुणों पर स्वयं ही बिक गया था। जब कर्ण कृतज्ञता के भार से दबा जा रहा था, उसका कण्ठावरोध हो रहा था, तब सुयोधन ने जो कुछ कहा वह उसके सच्चे हृदय का उद्गीर्ण स्वरूप ही है—

"किया कौन-सा त्याग अनोखा, दिया राज यदि तुझको ?
अरे, धन्य हो जायँ प्राण, तू ग्रहण करे यदि मुझको।"

एक निश्छल स्वाभिमानी वीर-हृदय इस प्रेम-बन्धन को अस्वीकार ही भला कैसे कर सकता था, वह तो इसके बहुत पहले ही बँध चुका था—

"कर्ण और गल गया, "हाय, मुझ पर भी इतना स्नेह !
वीर-बन्धु ! हम हुए आज से एक प्राण, दो देह।

\+ \+ \+

कृपा करें दिनमान कि आऊँ तेरे कोई काम।।"

कर्ण को वर्तमान समाज से जिस प्रतिष्ठा-प्राप्ति की स्वप्न में भी आशा नहीं थी, वही उसे सबके समक्ष दुर्योधन द्वारा प्राप्त हो गई और कर्ण ने यह समझ लिया कि संसार के बीच अभिजात-वर्ग के भीतर एक ही ऐसा प्राणी है, जिसे मनुष्य कहा जा सकता है और इसीलिए कर्ण के नेत्रों के आगे दुर्योधन के सामने अन्य सभी तथाकथित पूज्य जन उपेक्षणीय ही प्रतीत हुए। कर्ण को अपने पक्ष में मिलाने के लिए कोई-न-कोई घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र खोजा जाने लगा। तत्कालीन राजनीति-विशारद श्रीकृष्ण ने उस सम्बन्ध को ढूँढ़ ही निकाला और वह सम्बन्ध ऐसा था, जो उनकी दृष्टि में अचूक बाण ही था। दुर्योधन को नीचा दिखाने के लिए कर्ण पर ही सब की दृष्टि जा टिकती थी। सन्धि-प्रस्ताव के विफल होने पर श्रीकृष्ण ने सोचा कि यदि कर्ण को अपनी ओर मिला जाय, तो दुर्योधन की सारी हेकड़ी क्षण भर में ही धूल में मिल जायगी। उन्होंने कर्ण को अपनी ओर मिलाने के लिए कम प्रलोभन सामने नहीं रखे।

"क्या अघटनीय घटना कराल ?
तू पृथा-कुक्षि का प्रथम लाल
बन सूत अनादर सहता है
कौरव के दल में रहता है,
निज बन्धु मानता है पर को
कहता है शत्रु सहोदर को।।"

इसके पश्चात् समस्त कुरु-राज्य समर्पण करने का प्रस्ताव रखते हैं और कहते हैं—

"पदत्राण भीम पहनायेगा,
धर्माधिप चँवर डुलायेगा।
पहरे पर पार्थ प्रवर होंगे,
सहदेव नकुल अनुचर होंगे;

भोजन उत्तरा बनाएगी,
पांचाली पान खिलाएगी।"

सब सुनकर कर्ण उनके कथन का युक्ति-युक्त तर्कों द्वारा प्रत्याख्यान कर डालता है। कुन्ती के उस मातृत्व को नारीत्व का कलङ्क कहता है, जो सद्योजात शिशु को सरिता की तरङ्गों को समर्पित कर आती है और उसे भरी सभा में लोगों द्वारा अपमानित होते देख अपने गौरव-पद से तनिक भी हिलना नहीं चाहती। कुन्ती से ऊँचा गौरव वह राधा को देता है, जिसने जानबूझकर अन्य के तनय पर आत्मज-सी स्नेह-वृष्टि कर दी है। कृष्ण के प्रलोभनों को वह मैत्री के सामने नगण्य समझता है, क्यों?

"अपना विकास अवरुद्ध देख,
सारे समाज को क्रुद्ध देख,
भीतर जब टूट चुका था मन,
आ गया अचानक दुर्योधन,
निश्छल, पवित्र अनुराग लिए,
मेरा समस्त सौभाग्य लिए।"

वह आगे कहता है कि कुन्ती ने मुझे जन्म दिया, राधा ने मातृत्व सँभाला, किन्तु वास्तविक जीवन-दान तो मुझे दुर्योधन द्वारा प्राप्त हुआ, अतः उसका स्थान मातृत्व के ऊँचे पद पर है, वह सोदर भ्राताओं से भी ऊँचा स्थान मेरे हृदय में रखता है। अतः स्वर्ग का सुख भी उसकी मैत्री के सुख के सम्मुख मेरी दृष्टि में हेय है। ऐसे वरेण्य मित्र पर जब विपत्ति का पहाड़ टूटने को है तब मैं उसे छोड़कर, मित्र के साथ प्रवञ्चना करके मानवता को कलंकित नहीं करूँगा। मित्रता के महत्त्व को उसी के शब्दों में सुनिए—

"मित्रता बड़ा अनमोल रतन,
कब इसे तोल सकता है धन?
धरती की तो है क्या बिसात?
आजाय अगर वैकुण्ठ हाथ,
उसको भी न्यौछावर कर दूँ,
कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।"

वह कहता है कि पाण्डवों से मिलकर यदि मैं कुरुराज्य का अधिपति बन जाऊँ, तो भी उसे दुर्योधन को देकर मैं वन की राह पकड़ लूँगा। इस प्रकार सारी बातें श्रीकृष्ण को समझाकर वह यह भी कहता है कि मेरे जन्म का रहस्य

युधिष्ठिर से भूलकर भी न कहिएगा। महाभारत के युद्ध-प्रांगण में उसका रथ-चक्र धरती में गड़ जाता है और वह उसे उखाड़ने लगता है, वह समझ लेता है कि मुझ निःशस्त्र पर अर्जुन के बाण चलते ही जा रहे हैं, अतः अब जीवनाशा नहीं रही। किन्तु अपने प्राण-त्याग की चिन्ता उसे नहीं होती, उसे चिन्ता केवल यही है कि दुर्योधन को मैं विपत्ति से मुक्त नहीं कर सका—

"कहा जो आपने, सब कुछ सही है,
मगर अपनी मुझे चिन्ता नहीं है,
सुयोधन हेतु ही पछता रहा हूँ,
बिना विजयी बनाये जा रहा हूँ।"

इस प्रकार कर्ण ने जिस मैत्री का उज्वल आदर्श जगत् के सम्मुख उपस्थित किया, वह अनुपम है, अकथनीय है।

## मातृ-भक्ति

कर्ण को सूर्यदेव द्वारा यह विदित हुआ कि उसकी जन्मदात्री कुन्ती है और पिता स्वयं सूर्य देव। उसका जन्म समाज-प्रतिपादित-धर्म-विहित नहीं था, अतः लोक-लज्जा से बचने के लिये कुन्ती ने सार्वजनिक रूप से उसे अपना पुत्र कभी स्वीकार नहीं किया। कर्ण ईश्वर-प्रदत्त गुणों के द्वारा सभी वीरों से श्रेष्ठ था किन्तु जात्यभिमानी समाज एक सूत-पुत्र की श्रेष्ठता स्वीकार करने में अपनी हेठी समझता था और अवसर पाकर ऐसे लोग सूत कहकर अपमानित करने से भी चूकते नहीं थे। इन अपमान-कर्ताओं में वे ही लोग थे जो पाण्डव-पक्ष के थे अथवा पाण्डवों पर हार्दिक स्नेह रखते थे। कर्ण का अपमान समुदाय के बीच करने में भी उनकी मानवता लज्जित नहीं होती थी। इस अपमान से कर्ण को मर्मस्पृक् व्यथा होती थी, अपनी जननी कुन्ती को वह अपने समक्ष पाता नहीं था, किन्तु जनक सूर्य की ओर देखकर वह अपमान को विष-घूँट-सा शान्त भाव से पी जाता था। उन अवसरों पर कर्ण का ध्यान अपनी जननी पर भी अवश्य ही जाता होगा, जो अपने आत्मज को अपमानित होते देखकर भी उसकी ढाल बनने से घबराती थी और तब उस जननी के प्रति उसके अन्तस्तल में जो रोष, घृणा, उपेक्षा की भावना उत्पन्न होती रही होगी, उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। माता अपने पुत्र की व्यथा को नहीं देख सकती। यदि पुत्र की व्यथाको देखकर भी वह पाषाणी बनी चुप बैठी ही रह गई, तो उसे माता स्वीकार करने में मातृत्व के गौरव को लघु मान लेना पड़ेगा।

यदि माता यह जानती हो कि पुत्र के दुःख का परिहार उसके अधिकार में ही है, तब तो वह कथमपि निष्क्रिय बनी नहीं रह सकती। कुन्ती जीवित थी और कर्ण का अपमान होते अपनी आँखों देखती भी थी, किन्तु कभी वह साहसपूर्वक कर्ण की माता बनकर जन-समूह के सामने नहीं आ सकी। उसे अपनी प्रतिष्ठा पुत्र से भी अधिक प्रिय थी। उसके अन्य तीनों पुत्र भी पर पति से प्राप्त हुए थे और इस बात को उस समय के प्रायः सभी लोग जानते थे, किन्तु कुन्ती लज्जा से मरी नहीं और कर्ण को पुत्र कहने में समाज का कौन-सा भय उसे खाये जा रहा था! किन्तु उसी कुन्ती ने जब देखा कि कर्ण तो सभी पाण्डवों का वध कर डालने में सर्वथा समर्थ है, वह घड़ी भी सिर पर आ धमकी है, तब वह कर्ण को एकान्त में पुत्र कहकर स्वपक्ष में मिलाने के लिए आतुर हो उठी। कल कर्ण का युद्ध होने वाला है और आज सायङ्काल सबकी दृष्टि बचाकर कुन्ती कर्ण के पास उद्वेलित हृदय से जाती है। सूर्योपासना पूर्ण करके कर्ण उस अपरिचित प्रवया नारी के आगमन का कारण पूछता है और अपने को राधा का पुत्र बताकर उसे प्रणाम करता है। कुन्ती उसे अपना पुत्र कहती हुई उसके जन्म का सारा वृत्त सुना जाती है और जिस उद्देश्य से वह वहाँ गई थी, उसे भी कहती है। इस अवसर पर कवि ने कुन्ती का साहसी रूप प्रस्तुत किया है। वह कर्ण से कहती है—

> "यह विकट दृश्य मुझसे न सहा जायेगा,
> अब और न मुझसे मूक रहा जायेगा।
> जो छिपकर थी अब तक कुरेदती मन को,
> बतला दूँगी यह व्यथा समस्त भुवन को।
> भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
> फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से,
> उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी,
> डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।"

किन्तु इतने दिनों का तिरस्कृत जीवन झेलकर कर्ण जिस जननी को मन ही मन घृणा की दृष्टि से देखता रहा, उसी को सामने पाकर और उसकी स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य को लक्ष्य करके, उसने अपने मनके भीतर का समस्त सञ्चित विष उगल देना चाहा। वह बताता है युक्ति-युक्त ढंग से कि शिशु माता के गर्भ में विविध यातनाएँ सहकर जन्म लेता है, उसे भूख सताती है और जननी अपने स्तन्य-दान से उसे शान्ति प्रदान करती है, गोदी में भरकर उसकी व्यथा हर

लेने का उपक्रम करती है। किन्तु तुमने वह सब कुछ न करके उलटे मुझे नदी में बहा दिया, एक प्रकार से मृत समझकर, और अपने चली गईं राजभवन के सुख की खोज में। फिर मैं तुम्हारा कौन और तुम मेरी कौन ? तुम मेरी माता बनने की अधिकारिणी नहीं हो, माता मेरी वही है जिसने मेरे ऊपर माता के योग्य वात्सल्य-स्नेह की वर्षा कर दी, जिसने मुझे लालन-पालन द्वारा इतना बड़ा और इस योग्य बना दिया कि तुम भी आज वञ्चक मातृ-प्रेम को लेकर दौड़ी-दौड़ी मेरे पास आ गई हो—

"क्या कोर-कसर तुमने कोई भी की थी ?
जीवन के बदले साफ मृत्यु ही दी थी।
पर, तुमने जब पत्थर का किया कलेजा,
असली माता के पास भाग्य ने भेजा।"

मुझे आज्ञा देने की अधिकारिणी मेरी सच्ची माता राधा ही है, उसका स्थान ग्रहण करने की योग्यता का लेश भी तुममें नहीं है। माता को यदि पृथक् हटा दें, तो भी एक सामान्य स्त्री का स्त्रीत्व भी तो तुम में नहीं दिखाई पड़ता। राधा नीच जाति की हुई तो क्या हुआ ? वह तुम से नारी-सुलभ गुणों में भी बहुत आगे ही नहीं, उस स्थान पर है जहाँ तुम पहुँच नहीं सकी हो और न ही पहुँच सकोगी। पहला अपने और उसके बीच के अन्तर को तो देख लो—

"उसको सेवा, तुमको सुकीर्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो, वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगाकर सेंका।
उमड़ी न स्नेह की उज्ज्वल धार हृदय से,
तुम सूख गई मुझको पाते ही भय से।
पर राधा ने जिस दिन मुझको पाया था,
कहते हैं, उसको दूध उतर आया था।
तुमने जनकर भी नहीं पुत्र कर जाना,
उसने पाकर भी मुझे तनय निज माना।
अब तुम्हीं कहो, कैसे आत्मा को मारूँ,
माता कह उसके बदले तुम्हें पुकारूँ।"

एक महान् दोष कुन्ती में कर्ण को दिखाई दिया, जिसे वह अपना अपमान ही समझता था और इसका उसे महान् दुःख भी था—

"पर, हाय हुआ ऐसा क्यों वाम विधाता ?
मुझ वीर पुत्र को मिली भीरु क्यों माता ?"

कुन्ती के प्रति समाज द्वारा अपमानित कर्ण के ये वचन स्वाभाविक ही कहे जायँगे। किन्तु रश्मिरथी के कवि को कर्ण की इतनी बातों से सन्तोष नहीं हुआ, वह माता को सतीत्व की शिक्षा दिलाकर ही सन्तोष लेता है—

"पी सुधा, जहर को देख नहीं घबराती,
था किया प्रेम तो बढ़कर मोल चुकाती।
भोगती राज-सुख रहकर नहीं महल में,
पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु-तल में।
लूटती जगत में देवि! कीर्ति तुम भारी,
सत्य ही, कहाती सती सुचरिता नारी।"

मानना पड़ता है कि कर्ण का कथन यथार्थ है, असत्य नहीं है, फिर भी बहुत-सी बातें ऐसी भी होती हैं, जो यथार्थ होते हुए भी सभ्य के मुख निकलने पर अशोभन ही मानी जाती हैं, ग्राम्य कही जाती हैं। कर्ण ने जो कुछ पहले कहा था, उतना ही पर्याप्त था। कवि को बहुत-सी न कहने योग्य बातों को गम्य रखकर पाठकों के समझने के लिए भी छोड़ देना पड़ता है। रश्मिरथी का कवि, इस व्याख्यान-प्रियता में फँसकर अपने कवि के दायित्व को भूल गया है। एक तो जननी और दूसरे प्रवया कुन्ती से कर्ण का आगे का सविस्तर भोंड़ा कथन काव्य के महत्व को ठेस पहुँचाता है—

"खोला न गूढ़ जो भेद कभी जीवन में,
क्यों उसे खोलती हो अब चौथेपन में ?"

कवि ने कर्ण का स्थान स्वयं ग्रहण कर लिया है और यह भूल गया है कि वह जो कुछ अशोभन कथन करता जा रहा है वह कर्ण की जननी के लिए कहा जा रहा है। इसीलिए यह कथन अमर्यादित और विशेष नीरस भी हो गया है। कर्ण जैसे उदात्त पात्रके योग्य यह कथन नहीं रहा है।

अन्त में कर्ण के रोदन में कवि उसके असंगत कथन का प्रायश्चित कराने का यत्न भी कर देता है। अस्तु, कुन्तीकी आज्ञा को अंशतः मानता हुआ वह चार पाण्डवों को न मारने का वचन दे ही देता है और युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव को अपनी मुट्ठी में पाकर भी वह सुरक्षित छोड़ देता है। अतः कुंती और राधा दोनों माताओं के प्रति उसकी मातृ-भक्ति वैसे वीर पुरुष के योग्य ही कवि द्वारा अंकित की गई है। यद्यपि कर्ण राधा को ही अपनी सच्ची माता

मानता था, पर कुन्ती को खोटी-खरी सुनाकर भी वह सर्वथा निराश नहीं जाने देता, यही उसके त्यागमय चरित्र की महत्ता है।

## दानवीरता

कर्ण चार अक्षय अलंकारोंसे अलंकृत होकर माता के गर्भ से धरती पर उतरा था, उनमें दो अलंकार कवच और कुण्डल तो बाह्य थे, किन्तु दो आभ्यन्तर थे। उन्होंने अपने सहज रक्षक कवच और कुण्डल भी दे डाले किन्तु आभ्यन्तर अलंकार अन्त तक उसके साथ अक्षय रूप में बने रहे। वे दो आभूषण थे दान और शौर्य। सच तो यह है कि अपने इन आभ्यन्तर आभूषणों के ही कारण महारथी कर्ण आज भी जीवित हैं और मानवता के साथ-साथ अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। आज भी जब कोई किसी दानी की प्रशंसा करता है तब उपमान की तलाश में कर्ण का ही नाम सब से पहले जिह्वा पर उतर आता है। कर्ण ने कितना दान किया इसकी कोई इयत्ता नहीं है, वह अपने जीवन-काल में दीनों और असहायों का आश्रय था। कालिदास ने रघुवंशियों के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है, 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' अर्थात् रघुवंशी राजे अर्थ-संग्रह त्याग के लिए ही करते थे। उन्होंने महाराज दिलीप के दान की तुलना सूर्य से की है–

> "प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
> सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥"

और विश्व-विजेता रघु के त्याग की बादलों के संग्रह-त्याग से उपमा देते हुए कहा है–

> "स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
> आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव॥'

महादानी कर्ण का सञ्चय मात्र ही दान के लिए नहीं था, उसका तो शरीर भी निःस्वार्थ दान के लिए था। रश्मिरथी का कवि कर्ण के दान का वर्णन करता हुआ कहता है–

> "और कर्ण सत्य ही दान-हित ही संचय करता था,
> अर्जित कर बहुविभव निःस्व दीनों का घर भरता था।
> गो, धरणी, गज, वाजि, अन्न, धन, वसन जहाँ जो पाया,
> दानवीर ने हृदय खोलकर उसको वहीं लुटाया।

फहर रही थी मुक्त चतुर्दिक् यश की विमल पताका,
कर्ण नाम पड़ गया दान की अतुलनीय महिमा का।
श्रद्धासहित नमन करते सुन नाम देश के ज्ञानी,
अपना भाग्य समझ भजते थे उसे भाग्यहत प्राणी।"

अपने पुत्र अर्जुन को युद्ध में विजय-श्री दिलाने के लिए देवराज को भी वृद्ध ब्राह्मण बनकर कर्ण के समक्ष दान लेने जाना पड़ा था, क्योंकि वे जानते थे कि जिस कवच और कुण्डल से परिवेष्टित कर्ण ने जन्म लिया था, वह अभेद्य था। अतः देव-सेना के साथ इन्द्र भी यदि अर्जुन की सहायता करने रण में उतर आते तो भी दिव्यास्त्रों से सुसज्जित कर्ण पर विजय प्राप्त करना असम्भव हो जाता। इसीलिए उन्हें भी प्रवञ्चक बनना पड़ा। इन्द्र कर्ण के दान-निमित्त निर्धारित समय पर-उस समय उसके निकट पहुँचते हैं, जब वह जाह्नवी में सूर्योपासना में लीन था। इन्द्र उनके समक्ष जाने में हिचकिचा रहे थे, उन्हें सन्देह था दानप्राप्ति के प्रति, क्योंकि दान में प्राप्य वस्तु असाधारण थी, उसका दान प्राणदान के ही तुल्य था। जब गृहीता के ही मन में प्राप्य वस्तु की प्राप्ति में सन्देह है, तब वह वस्तु कितनी मूल्यवान् होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कर्ण के बुलाने पर देवराज उसके सम्मुख गए, किन्तु वहाँ भी वही हिचकिचाहट, माँगने पर भी यदि वस्तु के मिलने में सन्देह हो, तो याचक बनकर अपयश का भागी होना कहाँ की बुद्धिमत्ता होगी? किन्तु कर्ण का हठ तो देखिए—

"गो, धरती, धन, धाम, वस्तु जितनी चाहें, दिलवा दूँ,
इच्छा हो तो शीश काटकर पदपर यहीं चढ़ा दूँ।"

और जब उससे कवच और कुण्डल की माँग की जाती है, तब इन्द्र की क़लई भी खुल जाती है। फिर भी वह हँसता हुआ अर्जुन के साथ ही इन्द्र का भी उपहास करता हुआ कहता है—

"देवराज! हम जिसे जीत सकते न बाहु के बल से,
क्या है उचित उसे मारें हम न्याय छोड़कर छल से?
और पार्थ यदि बिना लड़े ही जय के लिए विकल है,
तो कहता हूँ, इस जय का भी एक उपाय सरल है।
कहिए उसे, मोम की मेरी एक मूर्ति बनवाये,
और काटकर उसे, जगत में कर्णजयी कहलाये।
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने छील त्वचा क्षण भर में,
कवच और कुण्डल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में।"

इन्द्र गए तो थे कर्ण को परास्त करने किन्तु परास्त होना पड़ा उन्हें ही कर्ण द्वारा। कुन्ती को चार पाण्डवों का दान और इन्द्र को कवच-कुंडल का दान करके कर्ण सचमुच ही गौरवपूर्वक शिवि और दधीचि की पंक्ति में जा बैठता है। महाभारत से कर्ण की दानवीरता के दो ज्वलन्त दृष्टान्त उतारकर कवि ने कर्ण के चरित्र को अत्यन्त उज्वलता प्रदान कर दी है।

रश्मिरथी के कवि ने बड़ी सफलता प्राप्त की है कर्ण के दिव्य चरित्र-निर्माण में। वह शील, शक्ति और सौंदर्य इन तीन मानवता के उज्वल गुणों का आगार तो अङ्कित किया ही गया है, साथ ही उनमें महान् त्याग को समन्वित करके कवि ने कर्ण को हिन्दी काव्य-जगत् का अप्रतिम नायक बना दिया है।

## पुरुषार्थ

प्राचीन आचार्यों ने काव्य में नायकत्व की प्राप्ति के लिए उच्चकुल-सम्भूतत्व को एक अनिवार्य गुण ही मान लिया था। किन्तु काल-चक्र के परिवर्तन के साथ ही साथ पूर्व मान्यताओं में भी परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। विज्ञान ने अपनी अद्भुत दक्षता से अब संसार को बहुत छोटा बना दिया है। आज मनुष्य-निर्मित जातियाँ-उपजातियाँ दम तोड़ रही हैं और प्रकृति-निर्मित मानवता ही एक मात्र जाति की उच्चता-नीचता की कसौटी मानी जाने लगी है। जिसमें मानवता के शृङ्गारभूत आभ्यन्तर गुण अधिक मात्रा में होंगे वही उच्च और जिसमें इन गुणों का अभाव होगा, वही नीच कहा जायगा। काव्य का नायक भी इन गुणों से भूषित व्यक्ति ही होगा, भले ही वह शूद्रजन्मा हो। अतः कुमारिका-गर्भ-सम्भूत सारथी-पालित जो कर्ण अब तक कवियों द्वारा काव्य-नायकत्व से वंचित रखा गया था, वह गर्वपूर्वक कवियों द्वारा काव्य-नायक के रूप में गृहीत हो रहा है। इधर देखते-देखते अकेले कर्ण पर अनेक प्रबन्ध लिखे जा चुके। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का कर्ण पर महाकाव्य, श्री रामगोपालशर्मा 'रुद्र' का 'कर्ण' काव्य, श्री आनन्दकुमार का 'अङ्गराज', श्री मोहनलाल अवस्थी 'मोहन' का 'महारथी' और श्री दिनकरका 'रश्मिरथी' इस बदली भावना के पोषक के रूप में साहित्य-जगत् में उतर चुके हैं। कर्ण की यह उक्ति आज भी लोगों की जिह्वा की नोक पर रहती है—

'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।'

कर्ण दैव के भरोसे उद्यमहीन होकर बैठनेवाला नहीं था, उसे अपने उद्योग पर दृढ़ विश्वास था, दैव की तो वह हँसी उड़ाया करता था। उसने अपने उद्योग

से युद्ध-कला में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया था। पूर्ण तल्लीनता के साथ उसने भार्गव से दिव्य अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। धर्म, ज्ञान वेद-शास्त्र के पांडित्य में अपने अध्यवसाय के बल से वह ब्राह्मणों से होड़ लेता था और शस्त्रास्त्र कला में उसने वह स्थान प्राप्त कर लिया था, जहाँ से क्षत्रिय योद्धा बौने से लगते थे। उसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। भय ने तो उसके मन में कभी स्थान ही नहीं पाया था। रथ-चक्र को जब वह निःशस्त्र होकर पृथ्वी से निकालने में लगा था, तब उसने अर्जुन से क्षण भर क्षत्रिय - धर्मानुसार रुक जाने को कहा था, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया था कि यह न समझो कि मैं भय से तुमसे रुकने को कह रहा हूँ, तुम क्षत्रिय हो और मैं क्षात्र-धर्मानुसार आचरण के लिए ही तुमसे तब तक रुकने के लिए कह रहा हूँ, जब तक मैं यह चक्र निकालने में व्यस्त हूँ। भय तो न मुझे श्रीकृष्ण का है और न ही तुम्हारा—

"यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महाभुज।
न मां रथस्थो भूमिष्ठं विकलं हन्तुमर्हसि॥
न वासुदेवात्त्वत्तो वा पाण्डवेय बिभेम्यहम्।
त्वं हि क्षत्रियदायादो महाकुलविवर्धनः।
अतस्त्वां प्रब्रवीम्येष मुहूर्तं क्षम पाण्डव॥"

रश्मिरथीकार ने महाभारत के महावीर कर्ण के चरित्र को बड़ी ही सावधानी से उत्तमत्ता के साथ अङ्कित किया है और अन्त तक कहीं भी उसका शौर्य धूमिल नहीं होने पाया है। कर्ण का यह कथन उसी के योग्य है—

"नरोचित धर्म से कुछ काम तो लो,
बहुत खेले जरा विश्राम तो लो,
फँसे रथ-चक्र को जब तक निकालूँ,
धनुष धारण करूँ, प्रहरण सँभालूँ,
रुको तब तक, चलाना बाण फिर तुम,
हरण करना, सको तो, प्राण फिर तुम।
नहीं अर्जुन शरण मैं माँगता हूँ,
समर्थित धर्म से रण माँगता हूँ।
भुवन की जीत मिटती है भुवन में,
उसे क्या खोजना गिरकर पतन में।"

उसके आत्म-पौरुष पर विश्वास की दृढ़ता का एक अनुपम दृश्य रश्मिरथीकार ने और उपस्थित करके उसके चरित्र को तथाकथित धर्मात्मा पाण्डवों के चरित्र से

कहीं उज्ज्वल कर दिखाया है। पाण्डव-श्रेष्ठ अर्जुन धोखे से पितामह भीष्म और गुरुद्रोण का वध करता है और कर्ण को भी अधर्मपूर्वक मारने में नहीं हिचकता, उसे धर्ममूर्ति कहे जानेवाले श्रीकृष्ण का भी इन अधर्माचारों के लिए समर्थन प्राप्त होता है और दूसरी ओर कर्ण भुजगराज अश्वसेन को धनुष पर ले आने का कठोर विरोध करता है, वह कहता है कि अर्जुन पर मेरी विजय अपने शौर्य से होगी, मैं धोखे से दूसरे की सहायता लेकर शत्रु का वध करना नहीं चाहता, तुम अपनी राह लगो—

"राधेय जरा हँसकर बोला,
'रे कुटिल! बात क्या कहता है?
जय का समस्त साधन नर का
अपनी बाहों में रहता, है।
उस पर भी साँपों से मिलकर
मैं मनुज मनुज से युद्ध करूँ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली
उससे आचरण विरुद्ध करूँ?
तेरी सहायता से जय तो मैं
अनायास पा जाऊँगा,
आनेवाली मानवता को, लेकिन
क्या मुँह दिखलाऊँगा?"

इस प्रकार मैत्री-निर्वाह, धर्मवीरता, दानवीरता और युद्धवीरता सभी में कर्ण अर्जुन से श्रेष्ठ ठहरता है। मानवता की जो पूर्ण प्रतिष्ठा रश्मिरथी के कर्ण द्वारा हुई है, वह हिन्दी-जगत् में अनुपम है, बेजोड़ है। कर्ण का चरित्र आद्यन्त निष्कलंक अङ्कित हुआ है, जो वर्तमान एवं आनेवाले युग में भी मानवता के प्रसार में सहायक होगा।

कर्ण और इन्द्र के वार्तालाप के प्रसङ्ग में कर्ण के मुख से यदि नियति और दैव-दोष का बार-बार उल्लेख न कराया गया होता, तो कर्ण का चरित्र और भी निखर उठा होता। फिर भी अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ अद्वितीय नृ-रत्न तो वह है ही।

### कुन्ती

कुन्ती के चरित्र को भी कवि ने यथावकाश सँभालने का भरपूर यत्न किया है। उसके मातृ-हृदय को कर्ण के प्रति वात्सल्य से शून्य नहीं रखा है। प्रथम

सर्गान्त में जब कर्ण अपनी अद्वितीय धनुर्विद्या द्वारा सबको चकित कर रहा था, जब कृप, द्रोण आदि उसे हीनजन्मा कहकर उसका तिरस्कार करने पर तुले हुए थे, जब दुर्योधन उसके गुणों पर मुग्ध होकर उस पर सर्वस्व निछावर कर रहा था, तब कुन्ती भी शून्य दृष्टि से सभी दृश्यों को बड़े मनोयोग से आँखों द्वारा पी रही थी, अपने में ही खोई हुई-सी। दृश्यान्त में कवि अवकाश निकाल कर उसका मानसिक चित्र उतार लेना नहीं भूल सका—

"और हाय, रनिवास चला जब वापस राजभवन को,
सबके पीछे चली एक विकला मसोसती मन को।
उजड़ गए हों स्वप्न कि जैसे हार गई हो दाँव,
नहीं उठाये भी उठ पाते थे कुन्ती के पाँव।"

कुन्ती के लोक-विख्यात तीन पुत्र थे, यदि अपने लिए नहीं तो अपने वंश और पुत्रों की सम्मान-रक्षा के निमित्त उसे कर्ण का जीवन-वृत्त छिपाना अनिवार्य था। किन्तु, जब उसने देखा कि उसके बीच में आ जाने से महान् संहारक युद्ध रुक सकता है, तब वह अपनी पद-प्रतिष्ठा को एक ओर ठेलकर अपने तनुज कर्ण के पास गई ही, उसके नारीत्व ने पुत्र के पास अन्त में जाने को बाध्य किया ही। वह जाकर कर्ण से कहती है—

"राधा का सुत तू नहीं, तनय मेरा है,
जो धर्मराज का, वही वंश तेरा है।"

वह पुत्र-त्याग के दोष को अपने सिर पर लेती है और कह भी देती है कि यदि मेरी बाल-बुद्धि न होती, तो मैं तेरा त्याग कदापि नहीं करती—

"उस पर भी बाल अबोध, काल बचपन का,
सूझा न शोध मुझको कुछ और पतन का॥'

किन्तु इस विकट घड़ी को सामने उपस्थित देख अब मैं मूक नहीं रह सकती; अब तक भी, तू यह न समझ कि मैं तुझे त्यागकर शान्त जीवन बिता सकी हूँ—

"यश ओढ़ जगत को तो छलती आई हूँ,
पर, सदा हृदय-तल में जलती आई हूँ।

\+ + +

लेकिन जब कुरु-कुल पर विनाश छाया है,
आखिरी घड़ी ले प्रलय निकट आया है,
तब किसी तरह हिम्मत समेटकर सारी,
आई मैं तेरे पास भाग्य की मारी।"

इस प्रकार कवि ने अन्त में माता और पुत्र को गले मिला दिया है और कुन्ती के शुद्ध मातृ-स्वरूप की रक्षा कर ली गई है। यदि कर्ण कुन्ती के प्रस्ताव को मान लेता तो कुन्ती उस दिन समस्त जगत् के सम्मुख अब तक का गुप्त रहस्य प्रकट कर देती, वह साहस कवि ने कुन्ती में ला दिया है। वह कह भी देती है, सम्पूर्ण साहस के साथ—

"यह विकट दृश्य मुझसे न सहा जायेगा,
अब और न मुझसे मूक रहा जायेगा।
जो छिपकर थी अब तक कुरेदती मनको,
बतला दूँगी वह व्यथा समस्त भुवन को।"

कुन्ती कर्ण के पास केवल स्वार्थ-सिद्धि के हेतु कवि द्वारा नहीं लाई गई है, वह लाई गई है मातृत्व-गुण से अलंकृत करके। इस प्रकार कवि ने कुन्ती के चरित्र को अत्यन्त निखरे हुए माता के चरित्र का रूप प्रदान कर दिया है, कोरा महाभारत का अनुगामी होना ही उसका ध्येय नहीं रहा है।

## रस-प्रवाह

प्रस्तुत काव्य में कर्ण के चरितानुकूल ही वीर रस का प्राधान्य है। श्री दिनकर इस रस के आरम्भ से ही सफल कवि रहे हैं। इस प्रबन्ध में आकर उन्हें अपनी रस-सिद्धि दिखाने का पर्याप्त अवकाश भी मिल पाया है। जिस प्रकार कर्ण वीरता की मूर्ति था, उसी प्रकार अपने सर्वथा अनुकूल ही उसे कवि भी प्राप्त हो गया।

एक स्थान पर सूर्य और कुन्ती को क्षण भर के लिए आमने-सामने करके कवि शृङ्गार रस के स्मृति संचारी को भी लाने से नहीं चूका है—

"चिन्ताकुल उलझी हुई व्यथा में मन से,
बाहर आई कुन्ती कढ़ विदुर - भवन से।
सामने तपन को देख तनिक घबराकर,
सितकेशी संभ्रममयी चली सकुचाकर।"

## प्रकृति-चित्रण

प्रकृति की ओर श्री दिनकर का आरम्भ से ही आकर्षण रहा है। लोकाश्रयी प्रकृति ही इनका वर्ण्य रही है, लोक-निरपेक्ष प्रकृति की ओर ये कम ही जा सके हैं। इनके प्रकृति-खण्ड हमारे चिर-परिचित होते हुए चिर नवीन भी हैं। रश्मिरथी एक चरित्र-प्रधान काव्य है, मानव-प्रकृति तो चरित में ही

अन्तर्भुक्त हो जाती है, किन्तु बाह्य प्रकृति मानव-मन को विकसित एवं हरा-भरा रखती है, इसलिए उसकी अनिवार्यता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। धान के हरे-भरे लहलहाते खेतों को देखकर एक किसान को जो हर्ष होता है, वह काम्य हर्ष है, किन्तु एक राह चलते दर्शक को जो हर्ष उसे देखकर होगा, वह निरपेक्ष या निष्काम हर्ष कहा जाएगा। काव्य में सफल कवि दोनों प्रकार के हर्षप्रद प्रकृति के दृश्य उपस्थित करता है, और उपयोगिता भी दोनों ही में होती है, एक में प्रत्यक्ष और दूसरी में परोक्ष, अतः उपेक्षणीय उनमें से कोई भी नहीं कही जायगी। भारतीय साहित्य में दोनों प्रकार की प्रकृति के मनोरम एवं बिम्बग्राही चित्र सफलतापूर्वक अंकित पाये जाते हैं। प्रकृति-चित्रण को देखकर कवि का भी मानसिक अध्ययन हो जाता है, उससे उसके मानस-विकास का पता चलता है। यदि प्रकृति न रहे तो मानव-जगत् का अस्तित्व भी न रहे, जिस प्रकार माता की स्नेहाञ्चल-छाया पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार प्रकृति की स्निग्धच्छाया मानव के साथ-ही-साथ मानवता की भी रक्षा करती रहती है। भारतीय प्रकृति मातृ-रूप में ही अपने शिशुओं की रक्षिका और शिक्षिका रही है। उसकी शिक्षा पर ध्यान देनेवाले सदा ही लाभ उठाते रहे हैं और उसकी अव-हेला करनेवालों के हाथ क्षति ही आती रही है। इसीलिए हमारे प्राचीन साहित्य में आधा स्थान प्रकृति को ही प्राप्त होता रहा है। वैदिक साहित्य में तो प्रकृति के भिन्न-भिन्न अंगों को देव और देवी के रूप में देखा गया है, अर्थात् प्रकृति को मानव से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है। संस्कृत के परवर्ती साहित्य में भी उन मान्यताओं की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकी है। मानव और प्रकृति के समुचित समन्वय को उपस्थित करनेवाला साहित्य ही यथार्थ में मंगल-विधायक साहित्य कहा जा सकता है। जब-जब मानव में मनःसंकोच के साथ दृष्टि-संकोच आया है, तब-तब ऐसे घटिया साहित्य की सर्जना हुई है, जो मंगल के स्थान पर अमंगल का ही विधान करता रहा है, अर्थात् वह अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो गया है।

परमाणु-युगीन मनुष्य की दृष्टि चारों ओर से सिमटकर अपने ऊपर ही केन्द्रित हो गई है। आज परोक्षतः उपयोगी तत्वों से हटकर वह प्रत्यक्षतः उपयोगी तत्वों के अनुसन्धान में खो गया है। आज कोयले की खान की तलाश में उसे हरे-भरे वन्न-प्रान्त नष्ट करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती, भले ही परोक्षतः वन-प्रान्त की उपयोगिता में स्थायित्व अधिक हो। पहले का कवि आकाश में उड़ता हुआ भी धरती को भूल नहीं जाता था और आज सर्वथा पार्थिवता में लिपटा हुआ कवि भी धरती को भूलता जा रहा है, उसे देखकर भी

न देखने में आत्म-गौरव समझने लगा है। यह लक्षण कुछ अच्छा नहीं है।

श्री दिनकर प्रकृति के निरीक्षकों में हैं, उपेक्षकों में नहीं। प्रबन्धकाव्य एक ऐसा भू-खण्ड होता है जिसमें भिन्न-भिन्न रूप और प्रकृति के मनुष्य तथा भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले प्रकृति-खंडों के दर्शन सुलभ होते हैं। जितना विस्तृत भू-खण्ड होगा तदनुसार ही न्यूनाधिक मानव-रूपों और प्रकृति-खण्डों का समावेश उसमें हो सकेगा। बाबू जयशंकर 'प्रसाद', पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० श्याम-नारायण पाण्डेय के प्रबन्ध-काव्यों में प्रकृति ने यथोचित स्थान प्राप्त किया है, श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'पंचवटी' जैसे कुछ खण्ड-काव्यों में भी प्रकृति निःसंकोच प्रतिष्ठित हुई है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त तो प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से हिन्दी काव्योपवन के सर्वाधिक पल्लवित एवं पुष्पित तरुवर हैं ही। श्री दिनकर के रश्मिरथी काव्य में प्रकृति का यत्र-तत्र मनोरम सन्धान हुआ है, यद्यपि मानव-प्रकृति शुद्ध-प्रकृति के लिए पर्याप्त अवकाश दे पाने की उदारता नहीं दिखा सकी है। प्रस्तुत काव्य में कहीं भी प्रकृति का ऐसा संश्लिष्ट रूप नहीं आ सका है, जिसे देखकर पाठक कुछ देर के लिए उसी में खो जाय। जिस माहेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम था और जहाँ कर्ण बाण-विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गया था, वहाँ प्रकृति-चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश था, किन्तु, वहाँ पहुँचकर कवि ने न तो पर्वत को देखा और न उसे तरु-लता संकुल वन-राजि दिखाई पड़ी। उसके वर्णित आश्रम को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी ग्राम के किनारे परशुराम का आश्रम रहा हो। संस्कृत के नाटकों में तपोवन के जो चित्र आए हैं, उनके कतिपय उपकरणों की शाब्दिक परिगणना मात्र कर दी गई है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल से प्रकृति का एक खण्ड उठाकर कवि ने रख लिया है—

> बैठे हुए सुखद आतप में मृग रोमन्थन करते हैं,
> वन के जीव विवर के बाहर हो स्वच्छन्द विचरते हैं।
> सूख रहे चीवर रसाल की नन्हीं झुकी टहनियों पर,
> नीचे बिखरे हुए पड़े हैं इंगुद से चिकने पत्थर।

मिलाकर देखिए—

> नीवाराः शुकगर्भ - कोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
> प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
> विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा—
> स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्द-लेखाङ्किताः॥

और—

'मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।'

आदि ज्यों-के-त्यों रख लिए गए हैं। कवि स्वयं प्रकृति के मनोज्ञ वातावरण में रमा नहीं है, इसी से उसकी आँखों में उतरे चित्र काव्य में देखने को नहीं मिलते। पाँचवें सर्ग में, जहाँ कुन्ती और कर्ण मिले हैं, रात्रि का एक लघु किन्तु संश्लिष्ट चित्र अवश्य आया है—

"अम्बर पर मोती गुँथे चिकुर फैलाकर,
अंजन उँडेल सारे जग को नहलाकर,
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिराञ्चल निशा पसारे।
थी दिशा स्तब्ध, नीरव समस्त अग-जग था
कुञ्जों में अब बोलता न कोई खग था।
झिल्ली अपना स्वर कभी-कभी भरती थी,
जल में जब-तब मछली छप-छप करती थी।"

सातवें सर्ग के आरम्भ में, उषा का स्मरण मात्र कवि को हो आया है, आँखें खोल उषा को उसने देखा नहीं। श्री दिनकर को उपमालंकार का वाचक 'सा', 'सी' कुछ ऐसा प्रिय लगता है कि विना सोचे-समझे उसे जहाँ-तहाँ चरणान्त में जड़ दिया करते हैं, चाहे वह वहाँ आसीन होकर संगीत का विवादी स्वर ही क्यों न बन गया हो। यहाँ भी 'सेंकती-सी', 'फेंकती-सी' में वही 'सी' आ डटी है।

कहने का तात्पर्य यह कि श्री दिनकर जैसे कवि द्वारा प्रकृति की जो उपेक्षा प्रस्तुत काव्य में हुई है, वह उनके काव्य-रचना की त्वरा और असावधानी को ही प्रकट करती है।

## भाषा

रश्मिरथी तक आते-आते कवि की भाषा का प्रवाह प्राञ्जल और स्वरूप-पारदर्शी हो गया है। यों तो आरम्भ से ही श्री दिनकर ने भाषा को चक्करदार, अबोधगम्य कभी भी बनाने का प्रयास नहीं किया, इनकी भाषा का स्वरूप सदा ही प्रसन्न और प्राञ्जल रहा है और वह अपने स्वाभाविक रूप में ही कवि के मुख से निःसृत होती रही है, किन्तु रश्मिरथी की भाषा पहले से भी सँभली हुई, विशेषतया ओज और प्रसाद गुणों से पूर्ण है। काव्य के खोलते ही यह स्पष्ट हो

जाता है कि कवि भारतीय जनता के बीच खड़ा होकर उसी के लिए बोलता जा रहा है। ऐसा नहीं हुआ है कि वह कहीं अपने भवन के एकाकी कक्ष में आसीन होकर जीवन से हटकर अपने-आप कुछ कहता जा रहा हो, यह सोचकर कि जिसे सुनना होगा, इधर-उधर से सुन लेगा, जिसे मेरी पेचीदा बातें समझनी होंगी, समझ लेगा, मुझे औरों के समझने-सुनने से क्या वास्ता? मैं अपनी उक्ति पर स्वयं सन्तुष्ट हूँ, यही बहुत है। वह अपने इस कर्तव्य को पूर्णतया समझता है कि मुझे सुनाना है, सुनाना होगा, समझना है और समझाना होगा। इसीलिए अपने काव्य के उद्देश्य को वह पहले ही पुकार कर कह देता है—

" 'जय हो', जग में जले जहाँ भी, नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को बल को।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।"

भाषा की अपनी सहज प्रासादिकता के कारण आज कवि जनता के बिलकुल समीप है, जनता के बीच में आ गया है। श्री दिनकर को दूरारूढ़ लाक्षणिकता, संस्कृत-शब्दावली-गुम्फित पद-रचना और शब्दगत कुहेलिका की सृष्टि कभी भी प्रिय नहीं रही है। स्थानोपयोगी मुहावरों के प्रयोग, स्वयमागत लाक्षणिक पद-योजना, भावोत्कर्षी अलंकार-विधान, वचन-वक्रता आदि गुणों के कारण प्रस्तुत काव्य की साहित्यिक भाषा अपने व्याकरण-सम्मत रूप में चमक उठी है। भरती के शब्द तथा तुकान्त के लिए ज़बर्दस्ती लाये गए काव्यत्वहीन शब्द आने नहीं पाए हैं। फारसी और अरबी के वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो उर्दू से होते हुए अब हिन्दी-राज्य के नागरिक बन चुके हैं, अर्थात् विदेशीय न रहकर स्वदेशीय हो गए हैं। सलूक, शाबाश, फक़त, मगर, सितारा, ज़हर, क़िस्मत आदि शब्द तो जन-साधारण के नित्य-प्रति व्यवहार में आते रहते हैं, इनमें परायापन तो तनिक भी नहीं रह गया है। एक स्थान पर भोजपुरी भाषा की स्थानीय क्रिया 'बोरना' ( डुबाना ) भी काम में लाई गई है—

'भीतर किसी अश्रु-गंगा में मुझे बोर नहलाते हैं।'

संस्कृत का 'ग्रहण' ( उपराग ) शब्द उर्दू में जाकर 'गहन' हो गया है, किन्तु हिन्दी में यह अपभ्रंश रूप काम में नहीं लाया गया था, इसे कवि ने अपनाया है—

'चला खोया हुआ-सा कर्ण मन में,
कि जैसे चाँद चलता हो गहन में।'

प्रान्तीय बोलियों में संज्ञा शब्द से भी क्रिया-पद बना लिये जाते हैं। जैसे,

हाथ से हथियाना, लात से लतियाना, आँख से अँखियाना आदि। खड़ी बोली की प्रकृति ऐसी नहीं है, किन्तु कवि ने दो-एक स्थान पर ऐसा किया है, जैसे—

'दुर्योधन को बोधूँ कैसे?
इस रण को अवरोधूँ कैसे?'

बोध दूँ और अवरोध करूँ के स्थान पर बोधूँ, अवरोधूँ कर दिया गया है। ऐसे ही एक स्थान पर 'पकड़ना चाहता हूँ' की जगह 'धरा चाहता हूँ' का प्रयोग हुआ है और 'हँसना चाहता हूँ' की जगह 'हँसा चाहता हूँ' लाया गया है—

'धरा हूँ चाहता श्री को करों से।'
'हँसा हूँ चाहता अंगार पर मैं।'

कीजे, दीजे विधि-क्रिया-रूप में कहीं-कहीं आ गए हैं। एक स्थान पर—

'कवच और कुण्डल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में।'

'धर दिये' होना चाहिए था, क्योंकि उक्त-कर्म दो हैं।

किन्तु एक बड़े काव्य में ये दो-एक स्थल विशाल वृक्ष के असंख्य हरे पत्तों में दो-एक पीले पत्तों से खो गए हैं और पूरे काव्य की भाषा में सँभली हुई एकरूपता है।

अलंकारों में औपम्यमूलक अलंकार विशेष रूप से आए हैं और वे वास्तव में काव्य-शोभाकर हैं। चमत्कार-प्रदर्शन मात्र के लिए अलंकारों की भरती नहीं की गई है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, सन्देह आदि का आनयन विशेष रूप से हुआ है।

कटि तक डूबा हुआ सलिल में, किसी ध्यान में रत सा,
अम्बुधि में आकटक निमज्जित कनक-खचित पर्वत-सा।

—उपमा

'सा' के स्थान पर 'था' होता तो तत्तम गम्योत्प्रेक्षा होती।

धूप-धूम-चर्चित लगते हैं तरु के श्याम छदन कैसे,
झपक रहे हों शिशु के अलसित कजरारे लोचन जैसे।

—उदाहरण

राधेय सान्ध्य पूजन में ध्यान लगाये,
था खड़ा विमल जल में युग बाहु उठाये।
तन में रवि का अप्रतिम तेज जगता था,
दीपित ललाट अपरार्क-सदृश लगता था।
मानो युग स्वर्णिम शिखर-मूल में आकर
हो बैठ गया सचमुच ही सिमट विभाकर।

अथवा मस्तक पर अरुण देवता को ले,
हो खड़ा तीर पर गरुड़ पंख निज खोले।

—सन्देह से पुष्ट उत्प्रेक्षा

जो भी खिलता फूल भुजा के ऊपर चढ़ता जाता है।

—अप्रस्तुत प्रशंसा

अर्पित प्रसून के लिए न यों ललचाओ,
पूजा की वेदी पर मत हाथ बढ़ाओ।

—प्रस्तुताङ्कुर

पर समझ गई, वह मुझको नहीं मिलेगा,
बिछुड़ी डाली पर पुष्प न आन खिलेगा।

—दृष्टान्त

झर गई पूँछ, रोमान्त झरे,
पशुता का झरना बाकी है;
बाहर-बाहर तन सँवर चुका
मन अभी सँवरना बाकी है।

—अनुमान

प्रासादों के कनकाभ शिखर
होते कबूतरों के ही घर,
महलों में गरुड़ न होता है,
कंचन पर कभी न सोता है।

—अन्योक्ति

पर, जाने क्यों, नियम एक अद्भुत जग में चलता है,
भोगी सुख भोगता, तपस्वी और अधिक जलता है।
हरियाली है, जहाँ, जलद भी उसी खण्ड के वासी,
मरु की भूमि मगर रह जाती है प्यासी की प्यासी।

—अर्थान्तरन्यास

कवि ने भारतीय काव्य-परम्परा का अनुगमन करते हुए भाषा का स्वाभाविक रूप अपनाकर लोक के हृदय में उतरने का सफल कवि-कर्म प्रस्तुत किया है। अलंकार-विधान में कहीं अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है, अपितु वे काव्य के प्रस्तुत उद्देश्य में रमणीयता लाने में पूर्णतया सफल हुए हैं। लोक-परिचित-पथ को अपनाकर कवि ने लोक-मंगल-विधान में सफल योग दिया है।

## रश्मिरथी का उद्देश्य

'रश्मिरथी' में कवि ने जानबूझकर दो ही पात्रों को प्रमुखता दी है। उनमें प्रथमता मिली है कर्ण को और द्वितीयता प्राप्त हुई है कुन्ती को। एक में पुरुष-चरित्र का आदर्श उपस्थित किया गया है और दूसरी में चरित्र-परिमार्जन द्वारा आदर्श नारी-चरित्र की कल्पना की गई है। मूल आख्यान पूर्णतया महाभारत से गृहीत है किन्तु, यथा-स्थान उद्देश्यानुकूल उसमें संशोधन करके उसे युगानु-कूल साँचे में ढालने की स्वतन्त्रता भी कवि ने बरती है। मानव-हृदय दिनोत्तर विकसित होता जा रहा है, भौतिक विज्ञान प्रतिक्षण विश्व की सीमा को संकुचित करता जा रहा है। दूरस्थ देश एक-दूसरे के निकट सरकते आ रहे हैं। आध्यात्मिक विज्ञान के आलोक में भारत ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का सन्देश विश्व में उद्घोषित किया था। समर्थ जनों ने विश्व के विभिन्न भू-खण्डों में जाकर अपनी वाणी को कर्म-क्षेत्र में उतारकर उसे व्याव-हारिक रूप प्रदान किया था। काल-चक्र से उठी धूलि-राशि में तिरोहित आदर्शों को भौतिक-विज्ञान आज एक-एक करके निर्मल करने में लगा हुआ है। कतिपय मनीषियों का विश्वास है कि सम्प्रदायों, जातियों, वर्णों, राष्ट्रों और वर्गों की वे दीवारें अचिर काल में ही ध्वस्त हो जाएँगी, जो आज मानव-मानव के बीच पार्थक्य स्थापित किये हुए हैं, और तब समस्त विश्व-मानव मानवता के अद्वितीय एवं अविभाज्य प्रांगण में एक दूसरे से प्रेमपूर्वक गले मिलेंगे और द्वैधीभाव की जवनिका तिरोहित हो जायगी।

'रश्मिरथी' के कवि ने, ब्राह्मण और क्षत्रिय की, आधुनिक अनेक मनी-षियों द्वारा प्रतिपादित, परिभाषा ही स्वीकार की है। वह जन्मना नहीं, कर्मणा मानव-महत्व का आराधक है—

> "ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
> दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
> क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
> सब से श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है हो जिसमें तप-त्याग।"

यही विकसित मानवता की यथार्थ दृष्टि है। बहु-संख्यक जनता सदा से ही अपनी इस सहज दृष्टि का परिचय देती आई है, इतिहास इसका ज्वलन्त साक्षी है। कवि ने कर्ण को पूर्ण विकसित मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। महा-भारत में वर्णित द्रौपदी के चीर-हरण की घटना भारतीय मानवता का महत्तम

कलंक कही जा सकती है, प्रस्तुत कवि की दृष्टि में वह सदा ही खटकती रही है। 'कुरुक्षेत्र' में भी उसने भीष्म के व्याज से यही कहा है–

नर की कीर्ति-ध्वजा उस दिन कट गई देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा जिस दिन निराश हो नर से।

उस सभा में कर्ण भी अपने प्रमुख व्यक्तित्व के साथ उपस्थित था। मय-विरचित राज-प्रासाद के दर्शन के समय भीम और द्रौपदी ने दुर्योधन का जो अपमान किया था, उसी का वह द्रौपदी के अपमान द्वारा प्रतिशोध चुका रहा था। उस समय कर्ण ने उसके उस दुष्कृत्य का विरोध न करके समर्थन ही किया था। अतः उस दुष्कर्म का समर्थन उसके उज्वल चरित्र का कलंक ही कहा जायगा, यद्यपि धृतराष्ट्र द्वारा वर-प्राप्ति के पश्चात् द्रौपदी की प्रशंसा करते हुए कर्ण ने कहा था–

"या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण समताः।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम॥
क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाऽभवत्॥
अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाऽभवत्॥"

—स० प०, अ० ७२॥

अर्थात् आज तक ऐसी रूपवती स्त्रियों में ऐसा महान् गुण हमारे सुनने में भी कभी नहीं आया। आज द्रौपदी ने अश्रुतपूर्व पातिव्रत-धर्म का प्रमाण उपस्थित कर दिया। कर्ण के उस चरित्रगत-कलङ्क का प्रक्षालन रश्मिरथीकार ने मृत्यु के पूर्व उसके मानस-पश्चात्ताप द्वारा कर दिया है—

"नहीं किंचित् मलिन अन्तर्गगन है,
कनक-सा ही हमारा स्वच्छ मन है,
अभी भी शुभ्र उर की चेतना है,
अगर है तो यही बस वेदना है—
वधूजन को नहीं रक्षण दिया क्यों?
समर्थन पाप का उस दिन किया क्यों?
न कोई योग्य निष्कृति पा रहा हूँ,
लिये यह दाह मन में जा रहा हूँ।"

महाभारत का कर्ण अपना रथ-चक्र धरती से निकालते समय अर्जुन से

निःशस्त्र के मारने को क्षत्रिय-धर्म-विरुद्ध कहकर क्षण भर रुक जाने को कहता है, किन्तु रश्मिरथी का कर्ण उसे 'मानव-धर्म' कहकर रुकने को कहता है—

"नरोचित धर्म से कुछ काम तो लो।"

इस प्रकार कर्ण के पावन चरित्र द्वारा विशुद्ध मानवता की प्रतिष्ठा पर कवि ने ज़ोर दिया है।

कुन्ती में पूर्ण मातृत्व दिखाने का यत्न किया गया है। कवि की दृष्टि में वह नारी कथमपि आदर्श नहीं है जो समाज-भय से शुद्ध मानवता की उपेक्षा कर दे। इसीलिए कर्ण ने कुन्ती को जो कड़े वचन कहे हैं, उन्हें वह शिरोधार्य करती है और कहती भी है कि यदि मैं अबोध बालिका न होती तो तुम्हें ही गोद में लेकर मैं संसार की सारी लांछनाओं और दुःखों के सिर पर पावँ रखकर गर्व से चलने को प्रस्तुत हो जाती। महाभारत की कुन्ती के समान वह कर्ण के परशुराम-प्रदत्त अमोघ बाणों को लेने नहीं गई थी, वह कर्ण को पुनः अपने अङ्क में वापस लेने गई थी, अपनी पूर्व त्रुटि का मार्जन करने गई थी। इस प्रकार 'रश्मिरथी' का सन्देश पूर्ण मानवता का सन्देश है, जिसे अपनाकर सारे विश्व का मंगल हो सकता है।

# उपसंहार

प्रतिक्षण परिवर्तन प्रकृति का नित्य नियम है। यह परिवर्तन दृश्यादृश्य रूप में सर्वत्र होता रहता है। यही परिवर्तन जीवन का लक्षण है। इसे चाहे-अनचाहे मानव को भी स्वीकार करना पड़ता है, जो इसको शिरोधार्य नहीं करता वह निर्जीव हो जाता है। साहित्य में भी यह परिवर्तन नित्य चलता रहता है। हम हिन्दी-साहित्य के आदि-काल से आज तक के साहित्य का पर्यवेक्षण करते हैं तो उसे भी इसी नियम का अनुवर्ती पाते हैं महाकवि चन्द से लेकर श्री दिनकर तक हमें इस नियम का सातत्य देखने को मिल जाता है। चाहे राज-पथ ही क्यों न हो, प्रकृति उसी का सेवन बहुत दिनों तक सह नहीं पाती। राजपथ को छोड़कर युग-परिवर्तनकारी कवि शाद्वल के बीच एक डुरहरी राह बनाता है, जब लोगों के चचते-चलते वही राजमार्ग के रूप में परिणत हो जाती है, तब कोई क्रान्तदर्शी नई राह पर फिर चलना आरम्भ कर देता है। इसी नूतनता-प्रियता को दृष्टि में रखकर किसी मनस्वी ने कह दिया था—

> लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकैं चलै कपूत।
> बिना लीक तीनों चलैं, सायर, सिंह, सपूत॥

आधुनिक काल में सच्चे काव्य का प्रणयन छायावाद-युग में हुआ। एक नई राह निकली, उसकी नवीनता के ही कारण पहले लोगों ने उसके प्रति अनास्था प्रकट की, धीरे-धीरे लोगों की हिचक मिटी। इस राह पर चलकर, इसे अपनाकर नई कविता को अभिव्यक्ति-क्षम भाषा मिली और दूसरा महान् पदार्थ मिला मानव का खोया हुआ किंवा तिरोहित व्यक्तित्व। इसके पूर्व काव्य परोक्षानुभूति-निरूपक हुआ करते थे, कवि अपने व्यक्तित्व को वर्ण्य व्यक्तित्व में घुला-मिला दिया करता था, छिपा देता था, स्वयं प्रत्यक्ष होता ही नहीं था। छाया-

वाद साहसपूर्वक कवि-व्यक्तित्व को लेकर सामने आया। उसने कवि-वर्ग में नूतनता-प्रेम को भी जगाया। हिन्दी-कविता ने पिछले तीस-पैंतीस वर्षों के भीतर अभिव्यक्ति के विविध क्षेत्र देखे, जितने इसके पूर्व इतनी थोड़ी कालावधि में कभी नहीं देखे थे। किसी भी निर्मिति का ध्येय अधिक-से-अधिक मानव-हित होना चाहिए, कवि-निर्मिति का ध्येय भी यही है। मानव-जाति का मङ्गल-विधान काव्य का लक्ष्य होना चाहिए। जो कविता अमृत-रस का दान मानव को देती है, वही सच्ची कविता है, चाहे वह रस न्यूनाधिक कड़वा ही क्यों न हो, किन्तु जन-मनोरंजन के साथ अमङ्गलकर पथ पर ले जानेवाली कविता उस विष-रस के समान होती है जिसमें मधु का मिश्रण कर दिया गया है। इसीलिए केवल माधुर्य ही सच्चे काव्य का निकष नहीं माना जा सकता। काव्य में सौन्दर्य वा माधुर्य के साथ-सथ शिवत्व का विधान भी अनिवार्यतः अपेक्षित है। शिवत्व काव्य की आत्मा है, माधुर्य वा सौन्दर्य उसका गुण। 'ध्वनि' भी काव्य का गुण ही है, वाच्यातीत अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले पद वा पदसमूह काव्य के शरीर और चेतन मन के गुण को ही प्रकट करते हैं, इसीलिए पदावली को ही दृष्टि में रखकर काव्य के उत्तम-मध्याधम कहें वा उत्तमोत्तमोत्तम-मध्यमाधम, भेद किये गए हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थेवाच्ये तदादृतः॥

अलंकार, रीतियाँ, शब्द-शक्तियाँ आदि काव्य के शारीरिक और मानसिक गुण-धर्म हैं, शिवत्व उसकी आत्मा का शाश्वत गुण है। अतः 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और 'काव्यस्यात्माध्वनिः' आदि को उपलक्षण ही समझना चाहिए। वस्तुतः 'काव्यस्यात्मा शिवः, रीतिध्वन्यादयोगुणाः' ही उत्तम काव्य का लक्षण है। काव्य की मार्मिक समीक्षा इसी दृष्टि से की जानी चाहिए और यही साहित्य का भी ध्येय है। केवल रीति, ध्वनि, अलङ्कार आदि भाषाश्रित गुणों के अन्वेषण-परीक्षण मात्र से ही काव्य की समीक्षा का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसलिए मेरा मत है कि छायावाद ने कोमल काव्य-शरीर का निर्माण तो किया किन्तु उसमें दृढ़ आत्मा की पूर्णतया प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी और उसका स्वप्निल शरीर दृढ़ आत्मा के उपयुक्त था भी नहीं, वह जीवन से ( लोक-जीवन से ) आँखें बचाकर दूर-दूर ही रहा करता था, यही भीरुता उसके आत्म-बल के अभाव की द्योतिका रही।

अल्पप्राण छायावाद ने निर्जन में ही अपना दम तोड़ दिया, किन्तु लोक-

जीवन की ओर भींगी आँखों देखता ही गया। आगे आनेवाले युगों ने उसका सर्वथा परित्याग ही नहीं कर दिया, उससे कुछ लिया भी। आगे के युगों ने उससे भाषा का पाठ जाने चाहे अनजाने लिया अवश्य। छायावाद युग के समाप्त होते न होते एक नये युग का अवतार हो गया। इस नये युग ने कवि को व्यक्ति की परिधि से निकालकर जन-साधारण के भीतर जाने को विवश किया। किसानों और मज़दूरों की ओर इनकी दृष्टि उसी प्रकार खिंच उठी जिस प्रकार नन्दिनी की आर्त पुकार से राजा दिलीप की दृष्टि पार्वत्यशोभा से खिंचकर उसकी ओर चली गई थी। कितने उसमें असली सवार थे और कितने सवारों में शामिल होने के लिए पीछे-पीछे लग गए थे, यह दूसरी बात है। तो इस प्रकार छाया-वाद के बादवाले युग को प्रगतिवाद-युग कहा गया और उस तथाकथित प्रगति-वाद के बाद ही ताल ठोंकता हुआ प्रयोगवाद भी अखाड़े में उतर पड़ा। हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में ये आश्चर्यजनक काम देखते-देखते हो गए, सर्कस के खेल की तरह।

यदि किसी अन्य भाषा का साहित्यिक हिन्दी में इस चटपट होनेवाले युग-परिवर्तन को देखेगा और क्रमागत युगों के नामों से अवगत होगा तो वह चकित हुए बिना न रहेगा। स्वाभाविक क्रम तो यह है, प्रयोग, छाया और प्रगति। पहले प्रयोग होता है, फिर छाया शरीर की अवतारणा होती है और अन्त में प्रगति पथ पर कविता अग्रसर होती है। हिन्दी में व्यतिक्रम ही देखने को मिलता है। इसका कारण एक ही नहीं है। पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि युगविशेष की कविता को जो नाम दिया गया, वह सुचिन्तित रूप में नहीं। उड़ते हुए नाम को पकड़ लिया गया और नामकरण के पश्चात् तत्कालीन कविता की नामानुकूलता सिद्ध करने के लिए बौद्धिक व्यायाम आरम्भ हो गया। जिसकी बुद्धि में जो समाया उसने उसी रूप से युगों के नामों की यथार्थता सिद्ध करने की चेष्टा की। वास्तव में अंग्रेज़ी साहित्य के रोमैण्टिक कवियों तथा बँगला साहित्य से प्रभावित होकर हिन्दी के उस संक्रान्ति-काल में जो रचनाएँ प्रस्तुत की गईं वे प्रयोगकाल की ही रचनाएँ थीं, उसके बाद प्रगतिवाद के नाम से जो रचनाएँ हुईं वे भी प्रयोग तक ही सीमित रह गईं और इधर अज्ञेय जी द्वारा अभिहित प्रयोगवादी रचनाएँ तो आरम्भिक नूतन प्रयोग हैं ही, जिसके भविष्य के विषय में अभी कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि अभी हिन्दी-काव्य-जगत् में नवीनता के नाम पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग ही चल रहे हैं। प्रगति-युग अभी आया ही नहीं। किन्तु इन प्रायोगिक रचनाओं से व्यतिरिक्त शुद्ध भारतीय परम्परा के काव्यों का सर्जन तो होता ही रहा है, नूतन भूमि पर।

प्रगतिवाद की दृढ़ प्रतिष्ठा काव्य में तब होती है जब काव्य जन-जीवन में घुल-मिल जाता है, जनता काव्य को अपना लेती है और काव्य सम्पूर्ण जन-जीवन का मंगलमय पथ-प्रदर्शन करने लगता है। जब काव्य में युग की लोक-वाणी उतर आती है, आशाऽऽकांक्षाएँ प्रतिफलित हो उठती हैं, लोक-हृदय से निराशा अपसरित होने लगती है, जीवन के प्रति नया उत्साह जाग उठता है, जनता लोक-विरोधी अमङ्गलन-विधायिनी शक्तियों से होड़ लेने की क्षमता का अपने भीतर अनुभव करने लगती है, कहने का तात्पर्य यह कि जब काव्य द्वारा जनता का आत्म-विश्वास सजग हो जाता है, तभी सच्चे अर्थ में प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा होती है। वस्तुत: गोस्वामी तुलसीदास सच्चे अर्थ में प्रगतिवादी कवि थे और उनका युग ही सच्चे अर्थ में प्रगतिवाद का युग था। इधर प्रगतिवाद के लक्षण पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की रचनाओं में इतस्तत: दिखाई पड़े थे' यद्यपि उनकी अधिकांश रचनाएँ प्रयोगवादी ही हैं।

आधुनिक कवियों की पहली पीढ़ी के बाद आनेवाले कवियों में श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की रचनाओं में भी प्रगतिवाद के तत्व आरम्भ से ही मिलने लगे थे। उनकी वाणी लोक की वाणी का प्रतिनिधित्व करनेवाली रही है। उन्होंने भारत के अतीत गौरव को साम्प्रतिक भूमि पर उतारने का सन्देश दिया है। उनकी वाणी विदेशों से उधार नहीं ली गई है, वे आरम्भ से ही भारतीय रहे हैं और भारतीय जन-जीवन में ही साँस लेते रहे हैं। उनकी ओजस्विनी वाणी लोक-हृदय का स्पर्श करनेवाली है। वे स्वयं जनता तक जाते हैं, अपने द्वार पर ही तन कर बैठे नहीं रहते कि जनता को ग़रज़ होगी तो ख़ुद मेरे पास आएगी, मैं उस तक क्यों जाऊँ!

इधर जो उनकी कतिपय रचनाएँ सुनने को मिलीं, जो स्यात् अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं, उन्हें देखकर मुझे कवि-प्रवर जयदेव की यह सूक्ति याद आई—

> येषां कोमल-काव्य-कौशल कला-लीलावती भारती,
> तेषां कर्कश-तर्क-वक्र-वचनोद्गारेऽपि किं हीयते।
> यैः कान्ता-कुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता—
> स्तैः किं मत्त-करीन्द्र-कुम्भ-शिखरे नारोपणीयाः शराः॥

—प्रसन्नराघव।

